सिद्ध योग

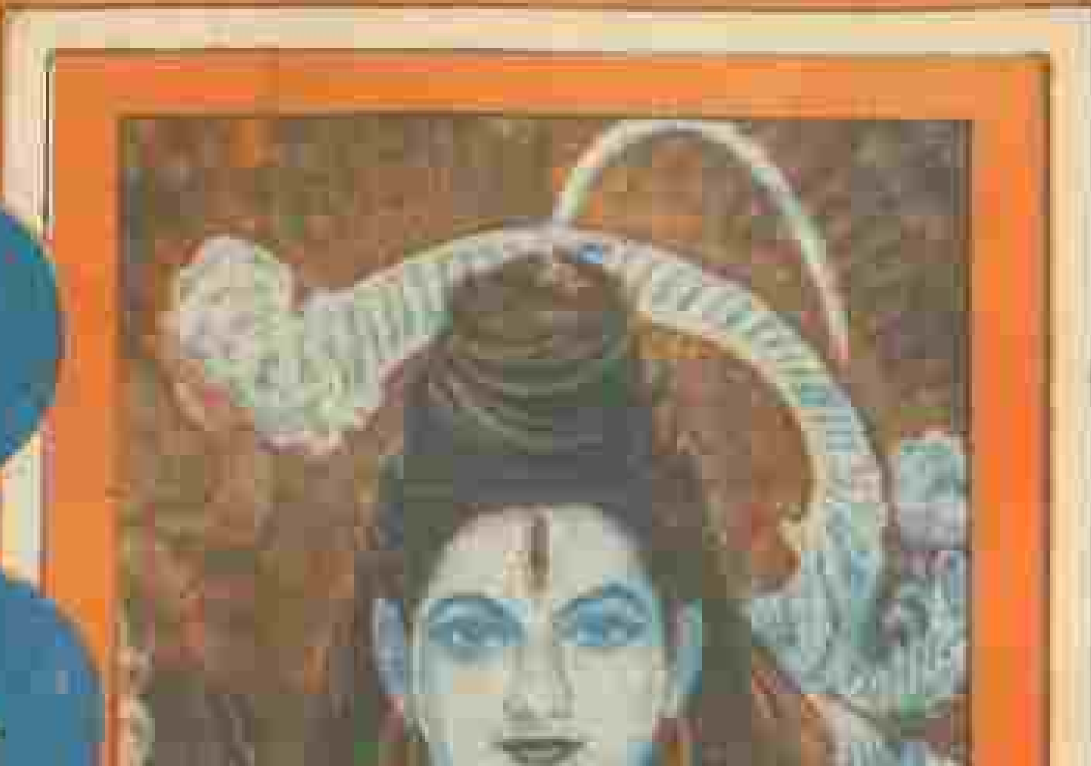

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन

सँवाई, आगरा

वर्ष १८

इस अंक में—

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सवाई

❁ सर्वसिद्ध विभाति	१
❁ मन की एकाग्रता के दो शास्त्रोक्त साधन योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज	२
❁ सद्शिष्य-लक्षण श्री समर्थ स्वामी रामदास	६
❁ गीता में जीवन-दर्शन श्री ऋषिराम शर्मा	९
❁ पुरुष और प्रकृति : योग की दृष्टि में श्री सुरेन्द्रबहादुर सिंह	१३
❁ ध्यान-क्रान्ति श्री यशोवर्धन शर्मा	१८
❁ सतत् अभ्यासयुक्त बनो आचार्य श्री चन्द्रदास शर्मा	२६
❁ मन की दौड़ श्रीमती सरिता भारद्वाज	३२
❁ जीवात्मा एवं परमात्मा श्री पूर्णचन्द्र पन्त, शास्त्री	३७
❁ यौगिक प्रश्नोत्तरी श्री गुरुदेव जी द्वारा	४६
❁ गायत्री का शुद्ध और सस्वर उच्चारण श्री पं० वीरसेन वेदश्रमी	५२
❁ दीर्घायु पाने के सरल उपाय डा० श्रीमती राजकुमारी मिश्रा	५६
❁ ममैवांशो जीव लोके श्री सुखेश्वरानन्द शास्त्री	७०
❁ मन की आँखें खोल बाबा एक साधक	७३
❁ पत्रम्-पुष्पम्-फलं-तोयम्–(संकलित)	७८
❁ कर्मयोनि और भोगयोनियाँ आचार्य श्री आशुतोष	८६
❁ योगेश्वर चरित माला (श्री गुरुदेवजी द्वारा)	९२

संयुक्त सम्पादक

'दिव्य'

अप्रैल १९८५

वार्षिक मूल्य २५ रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया

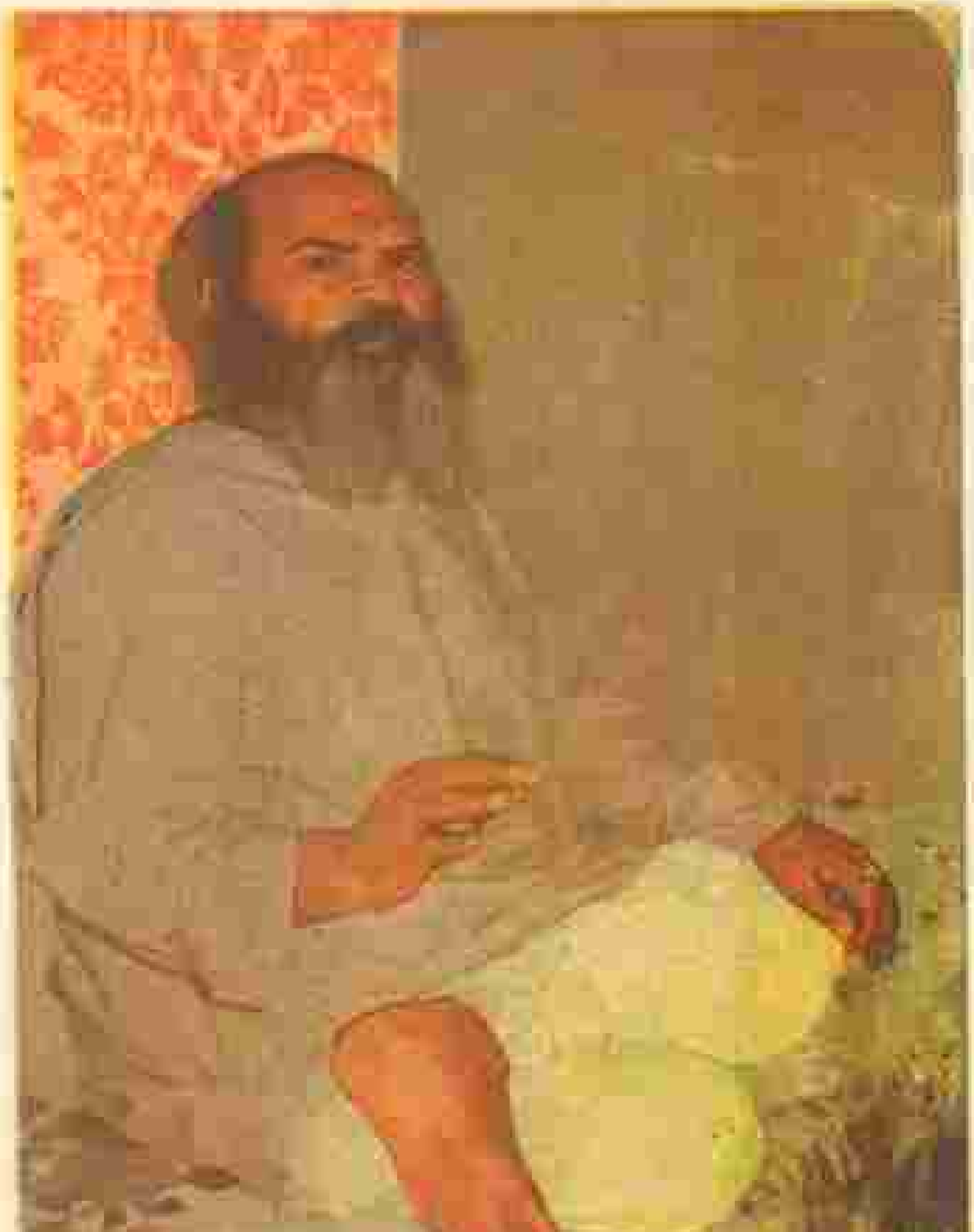

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (पन्नादपुर) आगरा।

वर्ष १८ अङ्क १	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्न बिभ्यतो, मुक्तिं प्राप्नोति सद्यः। तत्वात्मार्थान् बहुविधिवदं योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥	अप्रैल १९८५

—ॐ सर्वमिदं विभाति ॐ—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

अर्थात्—उन स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर के समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश प्रकट होने पर खद्योत का प्रकाश लुप्त हो जाता है, वैसे ही सूर्यका तेज भी उस असीम तेजके सामने लुप्त हो जाता है। चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ नहीं चमकते, फिर इस लौकिक अग्नि की तो बात ही क्या है। क्योंकि प्राकृत जगत में जो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील हैं, सब उन परब्रह्म परमेश्वर की प्रकाश-शक्तिके अंश को पाकर ही प्रकाशित हैं। वे अपने प्रकाशक के समीप अपना प्रकाश कैसे फैला सकते हैं? सारांश यह है कि यह सम्पूर्ण जगत् उन जगदात्मा पुरुषोत्तम के प्रकाश से अथवा उस प्रकाश के एक क्षुद्रतम अंश से प्रकाशित हो रहा है।

हमारा विशेष लेख—

मन की एकाग्रता के दो शास्त्रोक्त साधन

ॐ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मन की एकाग्रता ही मनुष्य के इह-लौकिक और पारलौकिक जीवन को सुखद और चमत्कार बनाने का मुख्य आधार होती है अतः प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि वह अपने मनको एकाग्रता की शक्ति से सम्पन्न कर ले। मन की एकाग्रता के बिना दृढ़ सङ्कल्प शक्ति का प्रादुर्भाव भी होना असम्भव ही रहता है। जो अपनी सङ्कल्प शक्ति में दृढ़ता लाकर असम्भव को भी सम्भव बना लेने की इच्छा रखते हैं उन्हें मन की एकाग्रता की आधार-भूमि पर ला खड़ा करने का सर्वप्रथम उपाय कार्यरूप में लाना चाहिए। समाधि-लाभ का आधार मन की एकाग्रता ही होती है। मनको एकाग्र किये बिना इससे तरङ्गित होने वाली अनगिनती वृत्तियों का नियमन अथवा निरोध हो ही नहीं सकता है। इसलिए योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' सूत्र को ही प्राथमिकता प्रदान करते हुए अपने समाधि पाद का शुभारम्भ यहीं से किया है। उन्होंने इसी पाद में आगे स्पष्ट किया है कि यदि तुम चित्तवृत्ति निरोध की साधना में सफल हो गये तो निश्चय ही अपने स्वाभाविक आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाओगे। तीसरे सूत्र में उन्होंने—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्।'

की ओर योग-साधकों का ध्यान खींचते हुए स्पष्ट किया है कि चित्तवृत्तियों के निरोध के प्रयास की सफलता तुम्हें आत्म स्वरूप में स्थित कराकर आत्मानन्द की उपलब्धि करा देगी, जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य होता है।

पर कैसे प्राप्त हो मन की यह एकाग्रता या चित्तवृत्तियों के निरोध की यह अवस्था ? अर्जुन को मन की एकाग्रता अथवा गीता की भाषा में स्थित-प्रज्ञता को वरण करने का उप-देश जगदात्मा भगवान कृष्णचन्द्र ने जब दिया तब उसने भी तो बिना किसी झिझक के यही प्रश्न उनसे पूछ लिया था :—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण
प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये
वायोरिव सुदुष्करम्॥

मित्र ! बात तो तुम्हारी ठीक है लेकिन यह तो बताओ कृपानिधान ! इस वायु के समान अति चञ्चल वश में न आने वाले बलवान मन को वश में कैसे किया जाय ? यह तो बड़ा ही दुःसाहस का कार्य है ! भगवान ने अर्जुन की बात का समर्थन करते हुए कहा— ठीक ही कहते हो तुम महाबाहो—

असंशयं महाबाहो

मनो दुर्निग्रहं चलं ।।

कौन्तेय ! निःसंशय तुम्हारा कहना तो ठीक ही है। मन निश्चय ही अतिशय चञ्चल और दुर्निग्रही है। इसे पकड़कर रखना, पाना वश में ले आना दुष्कर तो जरूर है। लेकिन सुनो अर्जुन—

अभ्यासेन तु कौन्तेय ।

वैराग्येण च गृह्यते ।।

अभ्यास और वैराग्य—यह दो ऐसे साधन हैं जिन्हें अपना लेने पर यह एकदम न सही तो धीरे-धीरे क्रमशः यह चञ्चल होते हुए भी मनुष्य के वश में आ जाया करता है। यह दोनों ही साधन शास्त्रोक्त हैं, ऋषियों और मुनियों द्वारा परीक्षित है। योगियों का अपना अनुभव रहा है कि जिनका मन वशमें नहीं हो पाता, अभ्यास और वैराग्य के अमोघ साधन न अपनाकर जो मनमतात्मना बने रहते हैं योगरत्न की उपलब्धि उनके लिए दुष्प्राप्य ही बनी रहती है।

योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलि ने भी मन को एकाग्र बनाने लिए इन्हीं दो साधनों को अपनाने का परामर्श दिया है। उनका आदेश है—

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

१/१२

अर्थात् मन को वश में करने का उपाय अभ्यास और वैराग्य ही है, निश्चय ही अभ्यासऔर वैराग्य के द्वारा मन तथा उसकी चंचल वृत्तियों का निरोध हो जाता है।

अभ्यास कहते हैं किसी भी यत्न अथवा क्रिया को पुनः-पुनः करने को। अगले सूत्र में भगवान पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।

श्रीमद् भगवद्गीता में भी इसी अभ्यास को इसप्रकार निरूपित किया है—

शनैःशनै रुपर मेद्,

बुद्धया धृति गृहीतया ।

आत्म संस्थं मनः कृत्वा,

न किंचिदपि चिन्तयेत ।।

साधना के अभ्यास में विवेक का मिश्रण रहता है। विवेक के द्वारा ही अनात्म विषयों से आत्माको भिन्न जानकर ही अनात्म विषयों और वस्तुओं के प्रति वैराग्य का उदय होता है। विवेक और वैराग्य दोनोंका जोड़ा है और इनके पीछे ही शमादि सम्पत्ति की सिद्धि होती है। इसीलिए यत्नपूर्वक अभ्यास में निरन्तर रत रहने का आदेश और परामर्श योग साधकों को दिया गया है। वैराग्य-

भावना को दृढ़भूमि पर ला खड़ा करने के लिए सत्कार पूर्वक यानी श्रद्धा के साथ-दीर्घ-कालीन अभ्यास ही चित्त-वशीकरण का एक मात्र उपाय है। जब मन दृढ़भूमि पर आ खड़े होने का अभ्यस्त हो जायगा तो फिर विषयवृत्तियों की धारा में सहजतया बह जाने के सिवाय उसको उल्टी दिशा में यानी जगत् के दुःख-जन्य कर्मों की ओर जाने में कोई शक्ति ही नहीं रहेगी।

भगवान व्यास देव ने योगदर्शन के सूत्र "अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः" के आशय को एक सुन्दर उपयोगी उदाहरण द्वारा हृदयङ्गम कराने का उत्तम प्रयास किया है। वे लिखते हैं—

चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्य प्राग्भारा विवेक विषय निम्ना सा कल्याणवहा। संसार प्राग्भाराऽविवेक विषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषय स्रोतः खिली-क्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेक-स्रोत उद्घाट्यते। इत्युभयाधीन-श्चित्तवृत्तिनिरोधः॥

अर्थात् चित्त रूपी नदी दो प्रकार से बहती है। एक कल्याण मार्ग की ओर और दूसरी पाप मार्ग की ओर। हमारा चित्त जिसका प्राग्भार कैवल्य से है और विवेक ज्ञान की ओर जिसका प्रवाह झुका रहता है वह मार्ग मनुष्यको कल्याण की ओर खींचकर ले जाता है, और जिसका आदि स्रोत संसार से है वह चित्त अविवेक अज्ञान की यानी नीचे की ओर बहा करता है, वह पाप की ओर बहा ले जाता है। एक अच्छा साधक बुद्धि बल से विषय स्रोत का दमन करके विवेक दर्शन का का अभ्यास करे तो कल्याण की पराकाष्ठा को पा सकता है। विषय स्रोत को दमन करने के लिए वैराग्य की आवश्यकता है और विवेक स्रोत के उद्घाटन के लिए नियमित अभ्यास की जरूरत रहती है। इस प्रकार से वैराग्य और अभ्यास दोनों के द्वारा ही चित्तवृत्ति निरोध हो सकता है। अभ्यास के विषय को बतलाते हुए भगवान पतञ्जलि देव के इसी प्रकरण को भगवान श्रीकृष्ण-चन्द्रने भगवद्गीतामें भली प्रकारसे समझाया है। अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण योग का उपदेश करते हैं और आदेश देते हैं कि हे अर्जुन! तुम योगी बनो अभ्यास और वैराग्य की सतत् साधना करो। यही योगी बनने का एक मात्र साधन है।

मनोनिरोध के उपाय का यही प्रकार उपनिषदों में और अन्यान्य धर्मग्रन्थों में भी बतलाया गया है। योगदर्शन में—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

सूत्र पर व्यासभाष्य की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता

स्थितिस्तदर्थः प्रयत्नो वीर्यं मुत्साहस्तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ।

अर्थात् वृत्ति रहित चित्त को प्रशान्त में ले आने के लिए दृढ़ता और उत्साह पूर्वक जिन साधनों का अनुष्ठान किया जाता है वह अभ्यास कहलाता है, एक साधक को अभ्यास भी किस प्रकार करना चाहिए यह भी हर व्यक्ति नहीं जान सकता। जो व्यक्ति एक दिन अभ्यास करके दूसरे दिन छोड़ देते हैं वह अभ्यास के वास्तविक फल को नहीं पा सकते। उसका निदर्शन भी भगवान पतञ्जलि देव ने स्पष्टतया भलीप्रकार से इस सूत्र में किया है—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारा सेवितो दृढभूमिः ।

हम ऊपर बता चुके हैं कि यह अभ्यास लम्बे समय तक किया हुआ और लगातार किया हुआ और आदरपूर्वक किया हुआ परिपक्व स्थिति का सम्पादन करता है। इस सूत्र पर भी व्यास भाष्य की पंक्तियां इस प्रकार पढ़िये—

दीर्घकालासेवितः निरन्तरासेवितः तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढभूमिर्भवति व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूत विषय इत्यर्थः ।

अर्थात् अभ्यास करते वक्त साधक को चाहिए कि वह उस अभ्यास को लम्बे समय तक करे और लम्बे समय तक करने का अर्थ यह है कि कम से कम यदि कोई व्यक्ति किसी मन्त्र का जप करना आरम्भ करता है तो उस मन्त्र का जप कम से कम दो घण्टे तो बराबर करना ही चाहिए। दो या तीन घण्टे लगातार मन्त्र जाप करने के बाद कम से कम मेरुदण्ड को सीधा रखकर एक या दो घण्टे अपनी शारीरिक स्थिति को देखकर ध्यानयोग का अभ्यास भी करना चाहिए क्योंकि हमारा शास्त्रीय आदेश यह स्पष्टीकरण के साथ बतलाता है कि—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्याय मामनेत् स्वाध्याय योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

अर्थात् स्वाध्याय करने से, मन्त्र-जाप आदि करने से ध्यानाभ्यास के लिए मन एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है और ध्यानाभ्यास में स्वाध्याय किये जाने वाले मन्त्र का अभ्यास करे। जहां पर स्वाध्याय और योग दो की सद्सम्पत्ति इकट्ठी हो जाती है वहां परमात्मा का प्रकाश हो जाया करता है, किंतु यह सब अभ्यास लम्बे समय तक करना ही चाहिए। लम्बे समय का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक साधक चार या छः घण्टे कर लेता है तो वही उसका लम्बा समय मान लिया जाय। ऐसी बात नहीं। उस प्रकार तो करना ही चाहिए किन्तु लम्बे

समाधि का अर्थ वर्षों में है। उस अभ्यास को कई वर्षों तक करते ही रहना चाहिए किन्तु साथ-साथ निरन्तर नित्य नियम से करते रहना चाहिए। अभ्यास कालमें साधकको तप, ब्रह्मचर्य आदि सभी व्रतों का पालन भी करना चाहिए। जो साधक इस प्रकार से जितेन्द्रियता पूर्वक और तपश्चर्या-पूर्वक अभ्यास को बढ़ाते हैं यह अभ्यास उनका बिल्कुल दृढ़ हो जाया करता है। तपस्या और जितेन्द्रियता के लिए आहार-विहार की नियमितता भी साधक के लिए परम कल्याणकारी रहती है। भगवान कृष्ण ने एक अभ्यासी साधक के लिए श्रीमद्-भगवद् गीता में सात्विक आहार-विहार के लिए इस प्रकार का निर्देश दिया है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति,
न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य,
जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहार विहारस्य,
युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात् जो लोग बहुत अधिक खाते हैं उन पर अन्न के प्रभाव से शरीर में आलस छाया रहता है, अतः ऐसे साधक नियत अभ्यास नहीं कर सकते। प्रतिकूल इसके जो साधक बिल्कुल खाना-पीना छोड़कर अभ्यास करते हैं वे भी दृढ़ता से साधन नहीं कर सकते क्योंकि उनका मन भूख के कारण अन्न ध्यान में ही लगा रहेगा। इसके अतिरिक्त जो लोग बहुत अधिक सोते हैं उनका सारा समय निद्रा में ही व्यतीत हो जाया करता है। या जो लोग बहुत अधिक जागते रहते हैं उनकी नाड़ियां भी विश्राम न पाकर उन्माद को पैदा करने वाली बन जाती हैं। इसलिए योगाभ्यासी साधक को चाहिए कि वह ठीक समय पर सो जाय तथा ठीक समय पर उठ जाय। ठीक समय पर भोजन करे अपने आहार-विहार को नियमित और सीमित रखे, तथा अपनी सभी दुश्चेष्टाएँ परिमित रखे तो उसका वह अभ्यास अवश्य ही दृढ़ता का सम्पादन करेगा।

साधक का जीवन कैसा होना चाहिए इसका एक और संकेत भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार किया है—

विविक्तसेवी लघ्वाशी,
यतवाक्कायमानसः।
ध्यान योगपरो नित्यं
वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकार बलंदर्पं
कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो
ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अर्थात् एकान्तवासी साधक को एकान्त-

सद्शिष्य-लक्षण

— समर्थ स्वामी रामदास

बिना सद्गुरु के सद्शिष्य का कोई उपयोग नहीं होता; और बिना सद्शिष्य के सद्गुरु व्यर्थ है। उत्तम और शुद्ध भूमि न देख कर उसमें सड़ी बीज बोने से अथवा खराब भूमि पर उत्तम बीज बोने से जो दशा होती है, वही दशा असद्गुरु के सामने सद्शिष्य की और असद्शिष्य के साथ सद्गुरु की होती है। सद्शिष्य तो सत्पात्र होता है पर असद्गुरु उसे मन्त्र-तन्त्र आदि बतलाता है जिससे उसका न तो इहलोक सुधरता है, और न परलोक। अथवा गुरु तो पूरी कृपा करता है, पर शिष्य ठीक उसी प्रकार अनधिकारी है, जैसे भाग्यवान पुरुष के आगे भिखारी का पुत्र हो। मतलब यह कि सद्गुरु और सद्शिष्य दोनों एक दूसरे के बिना व्यर्थ होते हैं। यदि दोनों सद् न हों तो परलोक नहीं सुधरता। जहां सद्गुरु और सद्शिष्य का जोड़ मिल जाता है, वहाँ कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता, अनायास ही दोनों के हौसले पूरे हो जाते हैं। यदि भूमि भी अच्छी हो और बीज भी अच्छा हो। पर वर्षा न हो तो भी बीज नहीं उगता। इसी प्रकार सद्गुरु और सद्शिष्य के मिलने पर भी बिना अध्यात्म निरूपण के काम नहीं चलता। यदि बीज बोया गया और वह जमा भी, पर यदि उसकी देख-रेख न की गई तो भी वह नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार साधना के बिना साधक के सब काम बिगड़ जाते हैं। जब तक अनाज तैयार होकर घर में आ जाए, तब तक सभी कुछ करना पड़ता है। बल्कि अनाज घर में आ जाने पर भी बराबर साधना करते रहना चाहिए। एक बार बहुत-सा लेने पर भी भोजन की आवश्यकता होती ही है। आत्मज्ञान हो जाने पर भी साधना की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार भवसागर से पार उतरने के लिए साधन, अभ्यास, सद्गुरु सद्शिष्य, सत्शास्त्रों के विचार, सत्कर्म और सदुपासना की आवश्यकता होती है। ❀

(पिछले पृष्ठ का शेष)

में अभ्यास करना चाहिए। जहां पर किसी भी प्रकार से कोई सांसारिक अन्तराय पैदा न हो और हल्के आहार का सेवन करना चाहिए। आहार हल्का हितकर और परिमित करें इसके साथ अपने ही मन वाणी और शरीर पर नियन्त्रण रक्खे, कोई भी निकृष्ट व्यवहार न वाणी से होने दे, न मन से कोई भी अशुभ चिन्तन न करे और न ही शरीर से कोई अनुचित चेष्टा करे। मन में वैराग्य को धारण करके अपने अभ्यास को नित्य नियम से करता रहे। अहंकार, बल का अभिमान, दर्प, काम और क्रोध तथा लोलुपता को छोड़कर यदि साधक शान्तचित्त से रहेगा तो उसके मन में अवश्य ही ब्रह्म-तत्व का प्रकाश हो जायगा। ❀

सत्यं · शिवं · सुन्दरम्

❀ उपदेशामृत ❀

❀ श्री श्री स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

शान्ति भङ्ग—

किसी व्यक्ति को यह अधिकार कदापि नहीं दिया जा सकता कि वह अपने संसर्ग में आने वालों की शान्ति भङ्ग करे या जन-साधारण के दुःखों का कारण बने।

उदार वृत्ति—

कुछ लोग दूसरों का उत्कर्ष नहीं देख सकते, डाह में जला करते हैं। उन्हें उदार वृत्ति बनानी चाहिए। मन को सदा प्रसन्न रखिए, प्रेम करना चाहिए। प्रेम ऐसी वस्तु है, जो ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, भय आदि को भगा देता है।

स्थितप्रज्ञ—

शुभ सङ्कल्प पर ध्यान एकाग्र कीजिए, महान विषयों पर विचार केन्द्रित रखिए, भावों को जाग्रत कीजिए और मन को प्रसन्न बनाइए, तो बुद्धि शीघ्र एकाग्र होगी। यह स्थितप्रज्ञ बनने का मुख्य साधन है।

अन्तर्मुखी साधन—

मन को अन्तर्मुखी करने के जितने साधन हैं, वे सब अभ्यास योग के अङ्ग हैं और विशेषज्ञों की कृपा से सीखे जाते हैं। अन्तर्मुखी मन का परिचय विशेष अनुभवों द्वारा होता है। पुस्तकों में पढ़कर या सुनकर तो केवल उसका संकेत मात्र ही मिलेगा।

क्रोधाग्नि—

क्रोध हँसी-खुशी को नष्ट करता है आनन्द की हत्या करता है। अग्नि तो उसी को जलाती है जो उसके पास जाता है, लेकिन क्रोधाग्नि सारे कुटुम्ब को जलाती है। अतः एव मन को वश में रखकर क्रोध को न उभरने देना ही बुद्धिमानी है।

सुख ही सुख—

सत्यवादी भले ही आर्थिक दृष्टि से दरिद्री हो, लेकिन वह राजाओं का सिंहासन हिलाने में भी समर्थ होता है। सुख भोगने के लिए वह रुकता नहीं, मुक्ति-पथ में बढ़ता ही चला जाता है। सुख तो उसके मार्ग में कदम-कदम पर उपस्थित मिलता है, पर उसे उसके भोगने की स्पृहा ही नहीं रहती।

संयमी की बुद्धि—

संयमी की बुद्धि शनैः शनैः इन्द्रियों के भोगों से विरत होकर आत्म-स्वरूप के सुख में स्थिर रहने लगती है, तब उसे काम-पीड़ा नहीं व्यापती।

गीता में जीवन-दर्शन

श्री चाँदीराम शर्मा

भगवती गीता हमें उस अमूल्य अमर जीवन-दर्शन का पाठ पढ़ाती है जिसको ग्रहण कर मानव प्राणी को सांसारिक बन्धनों से मुक्त कर कृतार्थ हो सकता है, उस अमृत को पा सकता है जिसको पान कर लेने पर स्वतः ही मानव-जीवन की सर्वसिद्धि हो जाती है, अर्थात् वह अविद्या का आवरणान्धकार हट जाता है जिसके प्रभाव से मानव इस जीव-जगत् के कण्टकाकीर्ण मार्गों में भटक रहा था, विदेशी विचार आदि में फंसा हुआ, काम, क्रोध, ईर्ष्या मोह के बवण्डर चाबुक खाता हुआ, अपनी विवशता पर तड़पता रहा था। भौतिक, आधिभौतिक तापों से सन्तप्त विक्षुब्ध दुःखी मानव अपने ही कर्म संस्कारों की भँवर में पड़कर मुक्ति के लिए छटपटा रहा था और निरन्तर मुक्ति के प्रयास में थोड़ा उलटा-उलटा विषयों की मृगतृष्णा में दौड़कर धोखा खाता रहा था। अब तो इस अविद्या के आवरण से जगत के दृश्य ही सत्य भासित हो रहे हैं और ईश्वर की सत्ता केवल कल्पना समझते हैं, मन और बुद्धि की परतों में मुक्ति का एहसास करती है जैसे कि मछली जाल में फंस जाने पर जाल को ही मुख में दबाकर पातालतल में चली जाती है और एहसास करती है कि मैं तो जाल से मुक्त हूँ। उसे क्या पता कि जाल खींचे जाते ही वह मारी जायगी। इसी तरह कुछ लोग इस हमारे जगत् में संभोग में भी समाधि का एहसास करते हैं और भोग विलास को ही अपने बुद्धि के विलास में मुक्ति का द्वार सिद्धान्त बना लेते हैं। और, हमें तो अमरजीवन को जानने के लिए अपने शास्त्रों की शरण में जाना है। जो गीता कहती है कि-

तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं
ते कार्याकार्यं व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं
कार्यं कर्तुमर्हसि॥

अर्थात् मुक्ति के लिए मुक्तिदाता शास्त्रों को ही प्रमाण मानना चाहिए और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए। यह स्पष्ट है जो तैरना नहीं जानता वह डूबते हुए लोगों को कैसे बचा सकता है। अतः जो स्वयं विषय-वासनाओं के बन्धन में है वह दूसरों को मुक्तिमार्ग नहीं दिखा सकता।

अब हम अपनी समस्या पर आना चाहते हैं जिसका समाधान हमें चाहिए। हमारी मूल समस्या है कि हम सुखमय और शान्तिमय

जीवन चाहते हैं इसका समाधान अबतक विषय-भोगों में खोजते रहे किन्तु समस्या जटिल होती गयी। जैसे कि खुजली के रोग में खुजाने पर सुख का आनन्द तो होता है किन्तु रोग तथा तज्जनित पीड़ा बढ़ती ही जाती है इसलिए भगवती गीता बताती है कि—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय
शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोनित्यान्
न तान् तितिक्षस्व भारत ॥
ये तु संस्पर्शजा भोगाः
दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय
न तेषु रमते बुधः ॥

अर्थात् बहिर्मुखी इन्द्रियों द्वारा जिन विषयात्मक सुख-दुःखों को हम भोगते हैं और त्वचा द्वारा जिस उष्णता एवं शीतलता का हम अनुभव करते हैं वह सब विषयों से वृत्ति का तादात्म्य है। जैसी वृत्ति कर्म भोगानुसार बनती है वह तद्गत सुखानुभूति या दुःखानुभूति कराती है और जैसे कर्मभोगकी निश्चित अवधि पूर्ण होती है उसी क्षण वृत्ति स्वतः बदल जाती है और पूर्व अनुभूतियां स्मृतिमात्र रह जाती हैं तथा वर्तमान वृत्ति नई अनुभूतियों के साथ उपस्थित हो जाती है। अतः हे अर्जुन! इन आने-जाने वाली नश्वर वृत्तियों की मृगतृष्णा में भ्रमित नहीं हो अपितु साहस के साथ दुःख-सुख सहने की अपनी सामर्थ्यको बढ़ाओ क्योंकि वृत्ति विषय के सम्पर्क से जनित इन्द्रिय भोग वस्तुतः दुःख के ही मूल हैं, आगामी दुःखद संस्कारों का निर्माण करते हैं और अस्थिर होने के कारण मानसिक क्लेश एवं अशांति के कारण हैं। ज्ञानी पुरुष कभी भी इस विषय-वासना के जाल में नहीं फंसते।

यह क्षणिक एवं नश्वर विषय सुख भी जीव की इच्छामात्र पर निर्भर नहीं करता, अपितु अपने ही पुण्य कर्मों तथा पापकर्मों पर निर्भर करता है और उसमें भी भाग्य की विडम्बना यह है कि—

पुण्यात् सुखमाप्नुवन्ति
पुण्यं नैव कुर्वन्ति मानवाः ।
पापात् दुःखमाप्नुवन्ति
पापम् कुर्वन्ति यत्नतः ॥

अर्थात् सुख पुण्यकर्म का परिपाक भोग है किन्तु मानव को पुण्य करने की रुचि नहीं है केवल मात्र फलभोग चाहता है। इसी प्रकार पापकर्म का परिपाक भोग ही दुःख है और यह बेचारा मानव पापकर्म करने के लिए निरन्तर प्रयास करता रहता है किन्तु उसके फल को लेने से घबराता है, परन्तु मिलता है। जैसा कर्म वैसा फल अवश्य ही भोगना है, क्योंकि ईश्वर का नियम है कि "अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतम् कर्म शुभाशुभम्"

अतः इच्छा के विरुद्ध सभी कर्मफलों को भोगना ही इस मानव के भाग्य की विडम्बना है, विवशता में सर पटकना है। भगवती गीता का उस मानव के लिए यही जीवन-

कर्मण्येवाधिकारस्ते
मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूः
मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि
सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा
समत्वं योग उच्यते ।
बुद्धियुक्तो जहातीह
उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद् योगाय युज्यस्व
योगः कर्मसु कौशलम् ॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि
फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः
पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

अर्थात् हे मानव ! तेरा केवल कर्म करने में ही अधिकार है और कर्म का फल तो कर्म के परिपाक पर निर्भर करेगा, तेरा उस पर स्वेच्छा का कोई नहीं, तू तो व्यर्थ केवल सुख भोग की प्रतीक्षा में अपना जीवन नष्ट कर रहा है, अरे ! सुख तो तभी मिलेगा, जब ईश्वरीय नियम के अनुसार तेरे किसी पुण्य कर्म का परिपाक हो और दुःख भी अमिट ही रहेगा, क्योंकि तेरे पापकर्मों के फलों का कोई न कोई पत्थर तेरे सर पर गिरता ही रहेगा, कहीं बचकर भागने का स्थान तो तुझे मालूम ही नहीं है। इसलिए सुखभोग रूपी कर्मफल की व्यर्थ कामना मत कर और न कर्मक्षेत्र से भागने की कोशिश कर, क्योंकि ऐसा करना तेरा व्यर्थ मिथ्या व्यवसाय ही होगा। परन्तु वास्तविक सुख और शान्ति पाना चाहता है तो उसका उपाय केवल एक है और वह है कि फलासक्ति को त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए योगयुक्त होकर कर्म करना चाहिए और कर्म करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि कर्म की फलसिद्धि अथवा विफलता तुम्हारे मन को विचलित न करे, हर्षोत्साहित न करे और, और न कर्म से विमुक्त भागने पावे। मन सफलता अथवा असफलता दोनों ही स्थितियों में समभाव यानि स्थिर तथा शान्त बना रहना चाहिए। मन का पूर्णरूपेण समभाव में यानि सङ्कल्प-विकल्प से रहित शान्तावस्था में बना रहना ही योग कहलाता है। यह निरन्तर याद रखना चाहिए कि कोई भी कर्म अक्षय सुख एवं शान्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं होता है। पुण्यात्मा देवता भी स्वर्ग के विशाल सुखभोग भोगकर पुण्य क्षीण हो जाने पर इसी मृत्युलोक में जन्म-मरण के आवागमन में फँस जाते हैं। अतः केवल योगारूढ़ होकर ही मानव पाप-पुण्य के

कर्मजाल से मुक्ति पा सकता है, माया-मोह की भँवर से मुक्त होकर इस दुःखात्मक भव-सागर को पार कर सकता है और विषय-वासना के विषवृक्ष में लगने वाले काँटों से मुक्त हो सकता है। जब तक मानव की कर्मफलगामी वासना बनी रहती है तब तक अनेकानेक योनियों में नाना-प्रकार के कर्मों से भुगतान का विषम चक्र चलता ही रहता है और एक कर्मफल का भोग अनेकानेक वासनाओं एवं संस्कारों के बीज जीव के कर्माशय में डाल देता है जो कि समयानुकूल अङ्कुरित होते रहते हैं। केवल वही योगी इस विषम जन्म-मरण के भुगतान-चक्र से मुक्त हो पाते हैं जो निष्काम कर्म करते हुए योगयुक्त हो जाते हैं और समाधिस्थ होकर उस परात्पर परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं जिसके बाद—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः
छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन् दृष्टे परावरे।

अर्थात् योग-समाधि के प्राप्त होते ही चित्त जड़ की गाँठ यानी जड़ बुद्धि का आत्मा में आरोपण का भेद खुल जाता है यानी जीव को अपने स्वयं प्रकाशी सच्चिदानन्द स्वरूप का पता लग जाता है जिसके परिणामस्वरूप उसकी अब तक की अविद्या-जनित सीमितता, परिच्छिन्नता एवं मिथ्या बुद्धि देहात्मक अहङ्कार के कारण होने वाले परिणाम दुःख, ताप-दुःख संस्कार-दुःख तथा वृत्ति विरोधात्मक दुःख का जाल विच्छिन्न हो जाता है। उसका क्लेशमूलक कर्माशय योगाग्नि से जलकर राख हो जाता है और मानव जीवन्मुक्त होकर अक्षय सुख-शान्ति को पा जाता है।

यह सब कैसे होता है और योगारूढ़ होने के लिए क्या करना पड़ता है, यह एक गूढ़ एवं जटिल विषय है। आइये, इस जटिल विषय को समझने के लिए हमें अर्जुन जैसा जिज्ञासु अधिकारी बनना होगा और सर्वलोकेश्वर कृष्ण की शरण में जाना होगा। इस कुरुक्षेत्र रूपी जगत् में एक ओर कौरव रूपी आसुरी वृत्तियों की सेना है तो दूसरी ओर पाण्डवरूपी दैवी वृत्तियों की सेना मैदान में है। तीसरी शक्ति है जगदात्मा कृष्ण जो सभी का स्वात्म स्वरूप है और जिसके प्रकाश में और जिसकी शक्ति से इस कुरुक्षेत्र का, युद्ध क्षेत्र की दोनों पक्ष की सेनाओं का एवं दैवी सेना की विजय का निर्धारण होता है। दैवी पक्ष के प्रमुख सेनापति अर्जुन जिनके गुण-विशेष का विचार करना आवश्यक है अतः अधिकारिता का स्वरूप, योग का स्वरूप और योग-साधनों के स्वरूप का विवरण अगले लेख में करेंगे।

[—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय]

पुरुष और प्रकृति : योग की दृष्टि में

श्री सुरेन्द्रबहादुर सिंह

योगशास्त्र का एक मात्र लक्ष्य है योग-साधन द्वारा बद्ध पुरुष को प्रकृति के बन्धन से मुक्त करा कर कैवल्य प्रदान कराना। प्रकृति ही एक मात्र पुरुष का बन्धन है। जिस क्रम से यह पुरुष को बांधती है उसके ठीक उल्टे क्रम से यह पुरुष को छोड़ती है। अतः प्रकृति का स्वरूप-ज्ञान योग के पथिक के लिए आवश्यक हो जाता है। योग-साधक के क्रमिक उत्थान का तात्पर्य उसका प्रकृति के स्वरूप का क्रमशः ज्ञान है। अतः प्रकृति स्वरूप-विवेचन प्रस्तुत योग परक लेख में असमीचीन न होगा।

यहाँ यह बता देना असङ्गत न होगा कि महर्षि पतञ्जलि के योगशास्त्र का सैद्धांतिक आधार सांख्यदर्शन ही है। सांख्यदर्शन के प्रकृति-पुरुष सिद्धांत को योग-शास्त्र ज्यों का त्यों स्वीकार करता है। इन दोनों दर्शनों में एकमात्र अन्तर यही है कि सांख्य-दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता जबकि योग-दर्शन ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। किन्तु योग का ईश्वर अन्य दर्शनों के ईश्वर की भांति सृष्टि का रचयिता, पालनकर्त्ता तथा संहारकर्त्ता न होकर एक प्रकृति-निरपेक्ष सत्ता है जो पूर्व के गुरुओं का भी गुरु है तथा काल की सीमा से परे एक पुरुष विशेष है जो ईश्वर-प्रणिधान करने वाले साधकों का सहायक है। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि शुद्ध दार्शनिक दृष्टिकोण से योगदर्शन में ईश्वर का स्थान सिद्धांतपरक नहीं अपितु साधना परक है।

सांख्यदर्शन के अनुसार सारे जगत् का अथवा जागतिक पदार्थों का मूल कारण प्रकृति है। प्रकृति मूलतत्व है तथा जगत् के सभी पदार्थ उसी की विकृति अथवा उसके विकार हैं। अर्थात् यह जगत् अपने दृश्य रूप में आने से पूर्व अव्यक्त प्रकृति में व्याप्त था। सांख्य-दर्शन द्वारा प्रतिपादित सृष्टि की उत्पत्ति का विवरण उसके प्रसिद्ध सिद्धांत सत्कार्यवाद पर आधारित है। सत्कार्यवाद को परिणामवाद भी कहते हैं। इसके अनुसार कोई भी कार्य पहले से ही अपने कारण में विद्यमान रहता है और कारण की क्रियाद्वारा वह उत्पन्न नहीं होता है।

इसके विपरीत न्याय और बौद्धदर्शन क्रमशः आरम्भवाद तथा असत्कार्यवाद को मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार जब कोई कार्य उत्पन्न होता है तो वह एक नया आरम्भ है। वह पहले से ही अपने कारण में विद्यमान नहीं रहता। बौद्धों का कहना है कि कारण के नष्ट होने पर ही कार्य का प्रादुर्भाव होता

है, जैसे बीज नष्ट होने पर अंकुर का प्रादुर्भाव होता है।

सांख्यदर्शन ने अपने मत की पुष्टि एवं विरोधी मतों का खण्डन सांख्यकारिका में इस प्रकार किया है:—

असदकरणादुपादानग्रहणात्
सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्
कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

अर्थात् कारण की क्रिया के पूर्व भी कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से रहती है, क्योंकि यदि वह असत् होता तो उसे कोई भी सत् नहीं कर सकता। यदि कार्य को कारण में असत् मान लिया जाय तो कार्य की असत्ता सभी कारणों के समान होने से सभी कारणों से सभी कार्य उत्पन्न होने लगेंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि संसार में जो कार्य जिस कारण में है वह कार्य उसी कारण से उत्पन्न होता है। इसीलिए दही चाहने वाला दूध का ग्रहण करता है न कि जल का। तेल को चाहने वाला तिलका ग्रहण करता है न कि रेत का। अतः यह स्पष्ट है कि कार्य अपने कारण में सत् है।

प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से मिलकर बनी है। सृष्टि से पूर्व प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था के कारण अव्यक्त रहती है। प्रकृति की अवस्था को प्रधान, गुणक्षोभिणी, बहुधानक तथा प्रसव- धर्मिणी नामों से भी अभिहित किया जाता है इसे सृष्टि के सभी पदार्थों का मूल होने के कारण प्रधान, गुणों की साम्यावस्था को स्वयं भङ्ग करने के कारण गुणक्षोभिणी तीनों गुणों के रूप में विविध पदार्थों के वैचित्र्य को बीज होने के कारण बहुधानक तथा समस्त पदार्थों की जननी होने के कारण प्रसवधर्मिणी कहा जाता है। प्रलय की अवस्था में भी सत्व, रज तथा तमोगुण अपने-अपने केन्द्र में समान परिमाण वाले होकर स्थित होने के कारण साम्यावस्था में रहते हैं। इन गुणों की साम्यावस्था का भङ्ग होना ही सृष्टि है। सृष्टि के समय यही तीनों महदादि कार्यों को उत्पन्न करते हैं। उस समय एक गुण की प्रधानता रहती है तथा शेष दो गुण गौण रहते हैं। बिना तीनों के विषम परिणाम के सृष्टि की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। सत्व, रज तथा तमोगुण क्रमशः सुख, दुःख तथा विषादात्मक होते हैं। सुख, दुःख तथा मोह ही इनका स्वरूप है। इनका कार्य क्रमशः प्रकाश करना, प्रवृत्त करना तथा नियमन करना अथवा रोकना है। इन तीनों गुणों में से प्रत्येक अन्य दो गुणों को दबाकर अपनी वृत्ति को प्राप्त करता है। इसलिए ये अभिभव वृत्ति वाले हैं। प्रत्येक गुण अन्य दो गुणों का सहारा लेकर ही अपने कार्य में प्रवृत्त होता है, अतः ये परस्पराश्रय वृत्तिवाले भी हैं। संसार के सभी कार्य त्रिगुणात्मक हैं जिनमें अनेक यहाँ तीनों गुण हैं। इन

तीनों के लक्षण इस प्रकार है—

सत्त्वं लघु प्रकाशकम्-
इष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः
प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥

सत्त्वगुण हल्का तथा प्रकाशक है। सत्त्व गुण का आधिक्य होने से शरीर में हल्केपन की अनुभूति होती है तथा इन्द्रियाँ अपने विषयों का ज्ञान शीघ्र प्राप्त करने में समर्थ होती है। इसलिए लघुत्व तथा प्रकाशत्व को सतोगुण का लक्षण माना गया है। रजोगुण प्रवृत्तिकारक तथा चञ्चल अर्थात् सक्रिय है। रजोगुण के कारण कार्य करने की प्रवृत्ति होती है तथा शरीर और मन सक्रिय बने रहते है। इसलिए प्रवर्तकत्व तथा सक्रियता को रजोगुण का लक्षण माना गया है। तमोगुण भारी तथा प्रतिबन्धक होता है। तमोगुण के कारण शरीर तथा इन्द्रियों में भारीपन रहता है तथा इन्द्रियों द्वारा विषयों के ज्ञान में रुकावट पैदा होती है। इसलिए गुरुत्व तथा प्रतिबन्धकत्व को तमोगुण का लक्षण माना गया है।

पुरुष तीनों गुणों से अतीत नित्य चेतन सत्ता है। वह साक्षी, द्रष्टा, कैवल्यरूप, मध्यस्थ, उदासीन, विवेकी, अप्रसवधर्मी तथा अकर्ता है। पुरुष का प्रकृति के साथ संयोग होना ही सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है। जब प्रकृति में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो रजोगुण के चञ्चल हो जाने के कारण प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है। प्रकृति तथा पुरुष के बिम्बप्रतिबिम्ब भाव के कारण जड़ प्रकृति में भी चेतन की प्रतीति हो उठती है। बस यहीं से सृष्टि का क्रम आरम्भ हो जाता है। चेतन तत्त्व पुरुष के सामने जिस समय वह बुद्धि उपस्थित हुई तो चेतन की झलक उसमें पड़ते ही वह चेतन हो उठी और उसमें 'मैं' की प्रतीति होने लगी। फिर बुद्धि ने उस चेतनता को पाकर अहङ्कार के रूप में अपना जड़ धर्म आत्मा अथवा पुरुष को दे दिया जिसके फलस्वरूप नित्य निर्विकारी पुरुष अपने को विकारी मानने लगा और उसमें कर्तृत्व अर्थात् 'मैं कर्त्ता हूँ' की प्रतीति होने लगी। इसी को जड़-चेतन की गांठ कहा जाता है। अब प्रश्न उठता है कि अन्ततः यह संयोग होता ही क्यों है? इसका उत्तर सांख्य दर्शन इस प्रकार देता है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं
कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि
संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

पुरुष और प्रकृति का संयोग पुरुष के दर्शन तथा कैवल्य के लिए होता है। प्रकृति भोग्या है, अतः उसके भोगात्मक दर्शन के लिए भोक्ता पुरुष की आवश्यकता है। प्रकृति

के साथ संयोग होने पर उसके दुःख आदि को अपने में मानकर दुःखी पुरुष की कैवल्य की आकांक्षा करता है और प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान का कैवल्य मुक्ति बिना प्रकृति के हो नहीं सकती, इसलिए पुरुष को प्रकृतिकी आवश्यकता है। जैसे बिना लङ्गड़े के अंधे को रास्ता नहीं दिखाई पड़ सकता। इसलिए अंधे को लङ्गड़े की आवश्यकता है और बिना अंधे के रास्ता चलना कठिन होने के कारण लङ्गड़े को अंधे की आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का संयोग हुए बिना दोनों का कार्य सिद्ध नहीं सकता। भोग और अपवर्ग रूप कार्य बिना सृष्टि के हो नहीं सकते और सृष्टि की उत्पत्ति बिना पुरुष प्रकृति संयोग के हो नहीं सकती। अतः पुरुष-प्रकृति का संयोग सृष्टि की उत्पत्ति के द्वारा भोग और अपवर्ग की प्राप्ति के लिए ही होता है।

अव्यक्त प्रकृति रूप मूल कारण से सर्व-प्रथम महत्तत्व वाली बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि से अहंकार तथा अहंकारसे ग्यारह इन्द्रियाँ एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं सहित सोलह पदार्थों का समूह उत्पन्न होता है। इन ग्यारह इन्द्रियों में मन भी एक इन्द्रिय के रूप में सम्मिलित है। पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं से पाँच स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द तन्मात्रा से शब्द-गुणवाला आकाश उत्पन्न होता है। शब्द तन्मात्रा सहित स्पर्श तन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती है जिसमें शब्द तथा स्पर्श के रहते हैं। शब्द और स्पर्श तन्मात्राओं के सहित रूप तन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप गुण वाला तेज उत्पन्न होता है। शब्द स्पर्श और रूप तन्मात्रा सहित रस तन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप-रस गुण वाला जल उत्पन्न होता है और शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्राओं सहित गन्ध तन्मात्रा से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।

सृष्टिक्रम में प्रथम तत्व महत्तत्व अथवा बुद्धितत्व है बुद्धितत्व के आठ धर्म हैं जिनमें चार सात्त्विक तथा चार तामस हैं। सात्त्विक धर्म इसप्रकार है—१-धर्म, २-ज्ञान, ३-वैराग्य तथा ४-ऐश्वर्य।

धर्म— उसे कहते हैं जिससे इहलोक तथा पारलौकिक सुख एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ज्ञान— प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान को कहते है।

वैराग्य— वैराग्य चार प्रकार है-यतमान व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार। इनसे ऐहिक तथा पारलौकिक सभी प्रकार के विषयों से चित्त हट जाता है।

ऐश्वर्य— बुद्धि का वह सात्त्विक धर्म है जिससे अणिमा, लघिमा आदि अष्ट सिद्धियों का आविर्भाव होता है। बुद्धितत्व के चार तामस धर्म हैं-अधर्म अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य।

'जो कुछ है वह मैं ही हूँ'-इस प्रकार का जो

अभिमान प्राणिमात्र को होता है वह अहंकार का लक्षण है। सात्त्विक अहंकार से पञ्चाश रूप इन्द्रियाँ तथा तामस अहंकार से वह पञ्च तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से होती है। मन का कार्य है सङ्कल्प-विकल्प करना, ज्ञानेन्द्रियों का कार्य है बाह्य विषयों को ग्रहण करना तथा कर्मेन्द्रियों का कार्य है बाह्य कर्मों को करना। बुद्धि, अहंकार और मन—इन तीनों का कार्य प्राण आदि वायुओं के द्वारा शरीर को धारण करना है।

शरीर तीन प्रकार के होते हैं जिन्हें विशेष भी कहा जाता है—१—सूक्ष्म अथवा लिंग-शरीर २—स्थूल शरीर तथा ३—प्रभूत (पर्वत वृक्ष आदि)। इनमें सूक्ष्म शरीर मुक्तिकाल तक रहते हैं किन्तु शेष दोनों शरीरों का नाश हो जाता है। सूक्ष्म शरीर सृष्टि के आदि में अव्यक्त प्रकृति से प्रगट होता है और वह महत्तत्त्व, अहंकार, एकादश इन्द्रियों तथा पञ्चतन्मात्राओं से बना होता है। यह पत्थर तक में प्रवेश कर सकता है, प्रत्येक शरीर में अलग-अलग रहता है तथा पुराने स्थूल शरीरों को त्यागता और नये स्थूल शरीरों को ग्रहण करता रहता है।

अज्ञान रूप विपर्यय संसार का मुख्य बीज है जिसके पाँच भेद हैं जिन्हें योगशास्त्र में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश नामक पाँच क्लेश कहे जाते हैं। इन समस्त क्लेशों की निवृत्ति आत्मा की स्वरूप स्थिति अथवा निर्बीज समाधि से ही सम्भव है। जिसप्रकार प्रकृति-पुरुष के विवेकज्ञान के अभाव में पुरुष का बन्धन सम्भव होता है, उसी प्रकार विवेक ख्याति द्वारा उसका बन्धन समाप्त होता है। योगाभ्यास द्वारा मनुष्य प्रकृति के सम्पूर्ण तत्त्वों का साक्षात्कार करता हुआ तथा संयम के बल से उन पर पूर्णाधिकार प्राप्त करता हुआ अन्त में प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान प्राप्त करके जड़-चेतन की गाँठ को खोलने में समर्थ हो जाता है। निरन्तर विवेक ख्याति के उदय होने से धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती जिसके फलस्वरूप क्लेशों और कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। इस अवस्था में प्रकृति के तीनों गुण कृतार्थ हो जाते हैं और वे उस पुरुष के लिए निष्प्रयोजन हो जाते हैं, क्योंकि पुरुष का भोग और अपवर्ग दोनों सिद्ध कर देने के पश्चात् उनका कोई कार्य शेष नहीं रह जाता। इस प्रकार पुरुष के अर्थ से शून्य हुए गुणों का पहले जिस क्रम से प्रसव हुआ था उसके उल्टे क्रम से प्रतिप्रसव होता है, अर्थात् मन अहंकार में, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि प्रधान अथवा प्रकृति में लय हो जाती है और आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। 'पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।" अर्थात् पुरुष का अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग पूर्ण करने के पश्चात् गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने का नाम कैवल्य है। इसी प्रकार चितिशक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना भी कैवल्य है।

ध्यान-क्रान्ति

✍ श्री यशोवर्धन वर्मा

सन्त कहते हैं कि जब पृथ्वी पर हाहाकार मच जाता है, अत्याचार और अनाचारों से त्रस्त मानवता कराह उठती है, विकराल समस्याएं मानवता को डसने दौड़ती हैं, सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच जाती है, मानव जीवन भ्रम अस्त-व्यस्त और विदीर्ण हो जाता है ऐसे कठिन समय में कोई योगिराज महापुरुष अंधेरे में भटकने वाली, श्रान्त-क्लान्त, भयचकित मानवता को सही राह दिखाकर विकृत जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना करते हैं और युग चेतना को एक भूमिका से उठाकर अन्य उच्चतर भूमिका पर ले जाया करते हैं। इन महापुरुषों का जीवन कष्टों और विघ्नों से भरा होता है परन्तु परमोच्च स्थिति प्राप्त इन योगी सन्तों के सान्निध्य में पापी पुण्यात्मा बन जाते हैं, दुराचारी सदाचारी बन जाते हैं और व्यसनी व्यसनों से मुक्त होकर देवयान पथ पर अग्रसर हो जाते हैं तथा सुख-शान्ति के सागर में गोते लगाने लगते हैं।

मेरे गुरुदेव सद्गुरु इन महापुरुषों का उद्घोष रहता है—हे अचेत मानव ! तू चेत जा, ध्यान कर। धर्म, अर्थ काम मोक्ष इन सबकी प्राप्ति के लिए ध्यान कर। हृदय में जो सच्चा, आनन्दमय, निर्मल अनमोल रस है। उसे पाने के लिए ध्यान कर। महंगे-महंगे इत्रों में, सुगन्धित पुष्पों में, 'पेरिस वाला' सेन्ट में गन्ध ढूंढना, छोड़कर भृकुटी और नाक के सङ्गम स्थान पर अनुपम सुगन्ध है, जहां दुर्गन्ध भी सुगन्ध बन जाती है, जीवात्मा परमानन्दमय बन जाता है। उसे पाने के लिए ध्यान कर। 'सोऽहम्' शब्द से अमीरस-पान करने के लिए ध्यान कर। स्पर्श सुख को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न करते-करते स्पर्शेन्द्रिय जड़ हो गई है। हे कर्महीन ! यदि तेरी अन्तःशक्ति जाग जाती तो परमानन्दमयी पराशक्ति तेरे सर्वाङ्ग में क्रियात्मक से व्याप्त हो जाती और तू स्वयम् ही स्पर्श का सुख समुद्र बन जाता। इन्द्रियों के जिन प्रिय विषयों को बाहर संसार में ढूंढते रहे हो वे सब तुम्हारे अन्दर हैं, तुम्हें वहीं मिल जायेंगे- इसके लिए ध्यान करो। अपने अन्दर ध्यान करो। अन्दर की जिस शक्ति के बल पर 'तुम' कहलाते हो, उसका ध्यान करो, उस शक्ति का ध्यान करो। अपने अन्तरङ्ग ध्यान में पंथ पार्टी, देश, धर्म, डिग्री, नेतापद, साहबपद, स्वामीपद को कोई बाधा मत मानो। जिस पद से ध्यान में बाधा आती है, उस अलापद का क्या प्रयोजन ? ध्यान सार्वभौमिकी विद्या

है बालक हो या बालिका, नर हो या नारी, ब्रह्मचारी हो गृहस्थ, वानप्रस्थी हो या संन्यासी—सभी के लिए ध्यान है। स्वयम् को खोजना है। वह मिल जावेगा। घर में रहते हो तो घर में, वनवासी, नगर निवासी नगर में, ग्रामवासी हो तो नगर में अथवा ग्रामवासी हो तो ग्राम में अथवा जहां कहीं भी रहते हो वहां आत्मा का ध्यान करो। रोगी हो डाक्टर, आरोपी हो या वकील, दरिद्र हो धनवान, गुणवान हो गुणहीन, पुण्यात्मा हो पुण्यहीन—सभी ध्यान करो। आत्म-शान्ति पाओगे।

इन्द्रियों की पांच विषयों की खोज से लेकर कला, काव्य, दर्शन एवं जीवनमुक्ति की खोज ध्यान में ही है। ध्यान करते-करते जब छुपी हुई अन्तःशक्ति का भण्डार खुल जावेगा तब शीघ्र ही उच्चतर ध्यान होने तुम्हारा रूप खुल जावेगा। अन्दर कैसी कैसी दिव्य ज्योतियां हैं इनका उदय होने पर तुम्हारी संसार की पहली इच्छा 'रूप' की प्राप्ति होगी। जिस ज्योति के सामने मन्मथ का रूप भी फीका है वह ज्योति चमकती दिखेगी और संसार तेजोमय दिखाई देने लगेगा। अब रूप के खुलते ही उसके मित्र 'शब्द' का भी उदय होगा। मस्तक में अनन्त गुणों का भण्डार रूप नाद उदित होंगे। वह नाद सुनने से उदासीनता, निरुत्साह, मानसिक ताप और मनमाने सोच-विचार की बीमारियां कट जायेंगी, सुखप्रद आह्लादकारी निद्रा आवेगी। ऐसी निद्रा को देवता ही भोगते हैं। इतना ही यह शब्द एक दिव्य रस का स्वाद करायेगा। वह रस शब्द से निकलने वाला तुम्हारे अन्दर तालु से स्रवित होने वाला मधुरातिमधुर रस है। इसका एक एक बिन्दु करोड़ों रुपये मोल का है। इस रस को पाकर अन्दर के सब रोग कटेंगे, मैं-मेरा मिटेगा, सभी में तुम्हें प्रेम रस प्राप्त होगा। 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।' रसमय होते ही अन्दर में पूर्ण आनन्द की अनुभूति होगी। वही देवरस कहो प्रेमरस कहो, योगरस कहो, तुम्हारी खोज परम रस है। जहाँ रूप—रस—शब्द ये तीन हैं वहीं इनका चौथा भाई 'गन्ध' भी है। तुम्हारे अन्दर जो सुन्दर दिव्य गन्ध है उसके प्रगट करते ही तुम ऐसे गीत गाओगे कि संसार में ही पूर्ण सार्थक है। पाँचवीं खोज 'स्पर्श' के लिए जीवन भर तरसते रहे और स्वर्ग की सुखशांति और आनन्द को चाहा—परन्तु संसारी स्पर्श से मिली जलन और क्षोभ। ध्यान द्वारा जब अन्तःशक्ति खुलती है तब महाशक्ति कुण्डलनी का प्रेम प्रवाह सर्वांग में व्याप्त हो जाता है और मनुष्य की इच्छा अन्तिम रूप से पूर्ण हो जाती है। इस प्रकार ध्यान द्वारा तुम सुन्दर रूप देखोगे, दिव्य रस का स्वाद लोगे, अनुपम आह्लादकारी गन्ध सू घोगे, महान कल्याणप्रद नाद

सुनोगे और परम सुखदायी नादों का सुख प्राप्त करोगे। तीनों लोक आनन्द ही आनन्द से भरे हैं, यह अनुभूति करोगे। योगिराज डंके की चोट कहते हैं कि संसार की सर्व पूर्ति भी ध्यान में है। ध्यान तुम्हारा मित्र, मार्गदर्शक, इच्छापूर्ति करने वाली कामधेनु एवं कल्पवृक्ष है। अतः नित्य प्रति ध्यान का अभ्यास करो, अन्तर्जगत् में प्रवेश करो, बाहर की ओर देखने वाली इन्द्रियों को कछुवे की तरह समेटकर अन्तर्मुखी हो जाओ। गीता कहती है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानम्।

यानी ध्यान से आत्मदर्शन होता है। श्रीमद् भागवत में कहा है—

'ध्याने ध्याने तद्गुण्यता।'

मतलब ध्यान में साधक परमात्मा हो जाता है।

ध्यान कैसे करना, किसका करना, कहाँ तक करना यह बड़ा महत्त्व का प्रश्न है। ध्यान का पूरा अर्थ है—निर्विचार मन। मन मनन रहित, चिन्तारहित, इच्छा-स्मृति रहित मन का अमन बनना—यह ऊँचे ध्यान का स्वरूप है। इस ध्यान को उच्चकोटि के सद्गुरु जानते हैं। ध्यान में मन का मनन रहित बनकर आत्माकार होकर रहना उसी अवस्था का द्योतक है। उपनिषद् कहती है—आत्मा से ध्यान, ध्यान से आत्मा से स्मृति आत्मा से बुद्धि, आत्मा से बल, आत्मा से कला, आत्मा से काव्य, आत्मा से व्याख्यान।

यस्य सर्वमिदं वशः।

यानी सब कुछ आत्मा के वश में है। सब कुछ आत्मा से प्रकट हुआ है। योगिराज यही आह्वान करते हैं। सतत 'मैं' हूँ, यह ख्याल रखते रहो, यह बड़ा ध्यान है। ध्यान का लक्ष्य मन नहीं बल्कि मन का साक्षी आत्मदेव है। जनक राजा के पूछने पर याज्ञवल्क्य ने कहा था—

यो मनसि तिष्ठन् मनसोऽन्तरो यं
मनो न वेद यस्य मनः शरीरम्।
यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त
आत्मान्तर्याम्यमृतः।

मन में रहते जिसका मन को भी पता नहीं, कारण, मन जिसका शरीर है, जो मन में रहकर मन को मननशील बनाता है, वह अन्तर्यामी अमृत रूप परमेश्वर जिसे विश्वरूप भी कहते हैं, वही ध्यान का लक्ष्य है। मन और चित्त के अनादि-नाटक को जो कोई एक देखता है, उसका ध्यान करो।

जगत् में महापुरुषों द्वारा रचे गये अनेक पन्थ हैं, उनमें ज्ञान, योग, प्रेम, भक्ति आदि साधनों द्वारा मनुष्य अपने गन्तव्य स्थान अमर पद को प्राप्त कर सकता है। उपनिषद् में कहा है—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।'

यानी परमात्मा तलवार की धार पर

चलने जैसा कठिन है। परन्तु 'सिद्धयोग' अथवा गुरुकृपा योग में सद्गुरुकृपा से सद् शिष्यों के लिए दुर्गम साधना पथ निष्कण्टक और सरल हो जाता है। इस मार्ग में गुरुकृपा ही वह दीक्षा है जिसे 'शक्तिपात दीक्षा' कहते हैं। जिस कृपा से योगेश्वर कल्याणधन श्री प्रभुजी महाराज ने एक अत्यन्त पतित पथभ्रष्ट अबला नारी रामवती को स्पर्श करते ही अखण्ड समाधिदान देकर परमात्मा की अनुभूति कराई, एक क्रान्तिकारी गृहस्थ युवक श्री मूलचन्दराज जी को सामने आते ही सन्तों की दुर्लभ अति तुरिया स्थिति प्रदान कर दी, मल्लाह जाति के मेढू भक्त और अवधूतानंद रामभा को योग की उच्चतम गतियां क्षणमात्र में देकर निहाल कर दिया, वह शक्तिपात की परम्परा है। जिस दीक्षा द्वारा गहनीनाथ जी ने निवृत्तिनाथ को क्षणमात्र में ब्रह्म-स्वरूप बना दिया और जिसके द्वारा शङ्कराचार्य के दृष्टिपात करते ही हस्तामलक ने अपनी आत्मा को पा लिया—वही है शक्तिपात दीक्षा। अकारण कृपालु श्री प्रभुजी की जिस कृपा से हरिहरानन्द तत्काल तत्त्वविजयी महासिद्ध बनकर बैठे हैं—वही है है शक्तिपात दीक्षा।

जब भी गुरुदेव अपने शिष्य में अध्यात्म-शक्ति के तेज को डालते हैं तब उसकी कुण्डलिनी क्रियाशील बनकर कार्य करने लगती है वही दीक्षा या गुरुकृपा है। गुरुदेव की अन्तः शक्ति शिष्य के अन्दर प्रविष्ट होते ही किसी को आनन्दानुभूति, तो किसी को चित्त की अद्भुत शुद्धता या चञ्चलता आ जाती है, किसी के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में नाना प्रकार की हरकतें जैसे आसन, मुद्रा, नेत्र का मूर्च्छादि चेष्टाएं स्वयं होने लग जाती हैं। उदर में, हृदय में, सिर में अनेक तरह से कार्य होने लगते हैं। स्नायु का उछलना, रोमाञ्च होना, ध्यान लगना, निद्रा आ जाना इत्यादि लक्षण शुरू होते हैं। ध्यान में श्वेत, रक्त, कृष्ण, नील आदि अनेक रङ्ग की ज्योतियों के दर्शन से आनन्द बढ़ता है। दीक्षित साधकों में अष्ट भाव भी जागृत हो जाते हैं। गुरुकृपा से जिनकी कुण्डलिनी जागृत हो जाती है उनके लिए मोक्ष भी क्या कठिन है। गुरु-कृपा-प्रसाद प्राप्त पुण्यशाली जनों को अति सहज साधन करना होता है। गुरुकृपा शक्ति उनका अधः-पतन नहीं होने देती। यह शक्ति अपने को आप जानती है और आप ही अपने को पहचानती है। शक्ति रूप में श्रीगुरु ही दीक्षा के समय शिष्य में प्रवेश करते हैं और उसमें आत्म-क्रान्ति लाकर कायापलट करने लगते हैं। शिष्य में प्रविष्ट हुई उनकी शक्ति मूलाधार से लेकर सहस्रार तक अनन्त प्रकार के विचित्र कार्य करती हुई सदा उसके हृदय में वास करती है। गुरुकृपा रूपी इस महान सिद्धयोग में भक्ति, ज्ञान, राज, हठ, लय आदि सभी के भाव आ जाते हैं। गुरुकृपा से

निरतिशय परमानन्दमय दर्शन सहज में होते हैं और जिस प्रकार सिन्धु में पड़ा हुआ बिन्दु अपने चारों ओर पानी ही देखकर पूर्ण सिन्धु बनकर शांत भाव को प्राप्त हो जाता है वैसे ही साधक आनन्द की स्फूर्ति में अपने को जगद्व्यापी विश्वात्मरूप देखता है—

सर्वो ममायं विभव
इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां
प्रसरेऽपि महेशता ॥

सिद्धगुरुजनों का अपना राडार होता है जो कितनी भी दूरी से अपने शिष्य का पता लगा लेता है। इस राडार का विस्तार क्षेत्र असीम होता है। ऐसे गुरु जानते हैं कि उन्हें शिष्य को कब कितना और किस विधि से देना है। अतः अपने को तैयार करते रहिए— समय आने पर कोई कोई सद्गुरु आपको दीक्षा देंगे। जो पूजनीय सद्गुरु तेजोमय रूप से हमारे अन्दर प्रविष्ट होते हैं उनसे हम कैसा व्यवहार करें, उनके उपकार को कैसे चुकाएं ? जो गुरुदेव हमारे मलमय, अशुचि विकारी शरीर में भेदाभेद नहीं देखते, छुआ-छूत नहीं देखते, रोगारोग नहीं देखते और कृपामय होकर उसमें प्रवेश करके हमारे पापों को, अशुचि को धो डालते हैं उनका हमारे ऊपर कितना उपकार है, कितना अनुग्रह है, कितनी दया है। दास-दासी और कर्मचारियों के समान वे अन्तर्मन को तपा-तपा कर योगाग्नि में जलाकर शुद्ध कञ्चन बनाते हैं। ऐसे गुरुदेव के समान कौन मित्र, कौन प्रेमी, कौन माँ, कौन देव है ? उनकी महिमा कौन समझ सकता है ? उनकी महिमा कौन कह सकता है ? इसलिए हमारे सब कुछ परम-पिता, केवल भगवान्, ध्यान समाधि—प्यारे गुरुदेव हैं। विवेकी और वैराग्यवान सत्-शिष्य को ध्यान, ज्ञान, विज्ञान और प्रेम द्वारा श्री गुरु का बनकर रहना चाहिए। वह गुरुदेव का मन्त्रजात पुत्र है। गुरुभक्ति पूर्ण शिष्य अपनी भक्ति तथा विवेक, वैराग्य के बल से संसार बन्धन को तोड़ डालता है, विघ्न जाल को जला डालता है, मोहपाश को काट फेंकता है। वह न दुःखाग्नि में तपता है न भ्रममय महानदी में डूबता है। व्यवहार कुशल, अभ्यासरत, जागरूक, कर्त्तव्य परायण गुरुवचन में पूर्ण निष्ठा रखने वाला और श्री गुरुदेव से अभिन्न रहने वाला ही यथार्थ में सच्चा शिष्य होता है। काया-वाचा मन से गुरुसेवा-रत हो जाना, गुरुआज्ञा का पूर्णरूपेण पालन, गुरु-स्मृति से विचलित न होना, गुरुदेव से निश्छल प्रेम करना गुरुभक्ति है। ऐसे गुरुभक्त शिष्य पर सर्वदेव प्रसन्न रहते हैं, सर्वमन्त्र फलीभूत होते हैं, सर्वसिद्धियाँ उसे प्राप्त होती हैं तथा गुरुभक्ति के साथ सर्वकाम-पूर्णकाम-निजात्म स्थिति की प्राप्ति होती है।

सतत् अभ्यासयुक्त बनो

❀ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, एम. ए.

जब भी श्री सद्गुरुदेव की शिष्य पर कृपा-दृष्टि होती है तो साधक को स्वप्न में ध्यान में अथवा शास्त्रों से हितकारी उपदेश मिलते रहा करते हैं। साधक सावधान होकर उन उपदेशों को अपनी साधना का पाथेय बनाकर अपने पथ पर बढ़ता जाय तो योग की अन्तः-भूमिकाओं में वह आरूढ़ होता चला जाया करता है। श्री गुरुदेव योग बल से साधक अग्नि का बल दे साधक को दूर बैठ कर देखा करते हैं। यदि साधक की श्रद्धा, निष्ठा और पुरुषार्थ अटूट है तभी वे उसे अपने अन्तरंग बनाने का मार्ग बताते हैं। योगिराज गोरखनाथ अपने एक पद में कहते हैं कि 'सोना वही जो सुलगावै अगीं'। जो साधक श्री सद्गुरु प्रदत्त विद्या को कमर कसकर अभ्यास करता है वही बच्चा गुरुदेव को प्यारा होता है। ऐसे साधक को गूढ़ विद्या देकर गुरुदेव विद्या के दान को सात्विक दान मानकर कृतकृत्य हो जाते हैं। ऐसे साधक को पाकर विद्या वीर्यवती बनती है और उत्तरोत्तर विद्या का प्रभाव बढ़ता चला जाता है। आग सुलगाने के लिये प्राणों पर संयम करना पड़ता है। मन को एकाग्र करना पड़ता है। साधन जुटाने पड़ते हैं। ईंधन अग्नि में डालना पड़ता है।

जो साधक निरुद्यमी, आलसी तथा प्रमादी होता है उसकी विद्या उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार जंग लग जाने से लोहे की वस्तु तथा दीमक लगने से लकड़ी की वस्तु। धैर्य और उत्साह दोनों ही अपेक्षित हैं साधना में विकास पाने के लिए। गीता में भगवान सात्विक कर्ता के लिये कहते हैं—

मुक्तसंगोऽनहंवादी
धृत्युत्साह समन्वितः।
सिद्धि असिद्ध्यो निर्विकारः
कर्ता सात्विक उच्यते॥

ऐसा साधक सात्विक अर्थात् सतोगुण से ओतप्रोत होता है जो संगदोष से अपने को बचाकर रखता है। संग यदि करना ही पड़े तो ध्यानी, ज्ञानी योगी पुरुषों का करना चाहिए। संग दोष से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भ्रम, प्रमाद एवं परनिन्दा रूपी पाप साधक के गुणों को चूहे की तरह काट डालते हैं जिसके परिणामस्वरूप साधक अपने लक्ष्य से दूर हटता चला जाता है। संग दोष से बचने पर अभिमान का भी अभाव हो जायगा। अभिमान पर्वत के शिखर के समान है जिस पर पानी नहीं ठहरता है। अहङ्कार में विनम्रता नहीं रहती। विनम्रता विद्या पाने की सबसे

बड़ी पावती है। उसमें भी श्री गुरुदेव के चरणकमलों में अपना देह गेह, विद्या, बुद्धि, पद, बल आदि सभी का अभिमान छोड़कर कुम्हार के हाथ, जिस पर मिट्टी का लोंदा होता है, उसी प्रकार नहीं बनते, तब तक उसका रूपान्तर नहीं हो सकता। नवधा भक्ति के प्रसंग में सन्त तुलसी तीसरे प्रकार की भक्ति गुरु सेवा को मानते हैं। किन्तु उसमें एक शर्त रख देते हैं—

गुरु पद पङ्कज सेवा,
तीसरी भगति अमान।
चौथी भगति मम गुणगन,
करइ कपट तजि गान॥

यह शर्त है कि गुरुदेव के चरण कमलों की वही सेवा भक्ति बनती है जो अमान अर्थात् मान अभिमान त्याग कर विनीत भाव से श्रद्धा और प्रेम भाव से की जाय। गुरुदेव मन की जानते हैं। जो मान सम्मान का भूखा होता है उसके गले में मालाएँ डलवा देते हैं। जिसे दूसरों को आशीर्वाद देने से अपना अहङ्कार तुष्ट लगता है उसको इसी प्रकार से बहला देते हैं। लोग उसके चरण छूने लगते हैं। और वह अपने को गुरुदेव से बड़ा मानने लग जाता है। ईश्वर उसका कल्याण करे। बेचारा कहीं का नहीं रहेगा। किसी सन्त ने पूछा कि अहंकारी साधक को कौन सी सिद्धि प्राप्त हो सकती है? सन्त ने उत्तर दिया:—

लहै प्रीति निशदिन नहीं,
और गुरु से चाहै मान।
तेहि यम न्योता देत है,
यमपुर तुम्हरो धाम।

जिसके अन्तःकरण में मान-सम्मान की अग्नि हरदम जलती रहती है और गुरुदेव से अपनी खुशामद और अपने सम्मान की इच्छा करते रहते हैं, ऐसे साधकों को यम अपनी यमपुरी में चलने का निमंत्रण देते हैं कि चलो बेटा! वहीं तुम्हें इस पाप की हम सजा देंगे। ऐसे साधक जन्म-मरण के घोर दुःखों में भटकते रह जाते हैं क्योंकि वे रोशनी को देखकर भी अन्धे बने हुये हैं।

साधक में जल्दबाजी नहीं होनी चाहिए। 'सहज पके सो मीठा होय।' धैर्य तभी होगा जब उसमें गुरुदेव तथा साधना में दृढ़ विश्वास होगा। श्रद्धा का प्रथम सोपान है कि श्री गुरु वाक्यों में तथा साधना विधि में यह विश्वास हो कि इसीसे हमारा कल्याण अवश्य होगा। यही अनुष्ठान है। यही हमारा हितकारी मार्ग है दूसरों के लिये चाहे जो मार्ग हो। 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई'—यह धर्म का सूत्र है। धैर्य से ही साधक लम्बे समय तक निरन्तरता से अपना जप ध्यान आदि साधन आदर पूर्वक कर पाता है जिससे उसका आधार पक्का होता है तथा उसके गिरने का खतरा कम रहता है। जैसा कि योग-दर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने साधना के लिये [illegible] सूत्र रूप से

कहा है—'स तु दीर्घकाल नैरन्तर्येण सत्कारा सेवितो दृढभूमिर्भवति।' जब साधक लम्बे समय तक लगातार आदर पूर्वक अपना अभ्यास करने लगता है तो उसकी साधना दृढ़ होने लगती है। साधक उत्साह के साथ उच्चभूमिकाओं पर आरूढ़ होता चला जाता है। सत्य यह है कि—सिद्धयोग के साधक की शक्ति स्वयं वह सब कराने लगती है जिससे साधना का विकास होता है। यथा आसन बन्ध मुद्रा, नाड़ी शोधन प्राणायाम विभिन्न धारणाएँ तथा संयम का विभिन्न भूमिकाओं पर विनियोग, जिससे योगी में अनेक प्रकार की शक्तियां आने लगती हैं। जब योगी शक्ति पाकर भी पहले जैसी निरभिमान और निर्विकार स्थिति में रहता है तब उसका खजाना बढ़ता चला जाता है। एक दिन वह अपनी साधना के लक्ष्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। योगी बनना कोई हँसी खेल नहीं है। लाखों अरमान मिटाने पर एक अरमान पूरा होता है।

'हजारों साल नरगिस
अपनी बेनूरी पर रोती है।
बड़ी मुश्किल से होता है,
चमन में इक दीदावर पैदा ॥

एक दिन ध्यान में श्रीगुरुदेव ने मेरे कानों में पवित्र शब्द गुनगुनाये—'योगाभ्यासी सदा द्विजः।' बुद्धि का व्युत्थान हुआ और जब मैं जगा तो विचार करने लगा कि यह सूत्र रूप में मेरे हित के लिए जो उपदेश दिया है उसका अर्थ क्या है? एक अर्थ यह सूझा कि ब्राह्मण को सदा योगध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिए। दूसरा अर्थ यह सूझा कि जो योगध्यान का अभ्यास सदा करता रहता है वह चाहे शूद्र ही क्यों न हो उसके अन्दर उत्तम संस्कार आने लगते हैं और वह 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के नियमानुसार ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। यह वाक्य मन में अनन्त आनन्द का जनक तो था ही साथ ही विचार की वस्तु भी था। सोचते-सोचते फिर एक दिन उन कृपानिधान की करुणा कृपा हुई और मेरी उलझन को समझकर पुनः उन्होंने ध्यान में उपदेश दिया—'सदाभ्यासी भवेत् द्विजः।' द्विज को सदा अभ्यास में लगा रहना चाहिए, यदि उसने अभ्यास में चूक की तो अनीश्वरीय गुण उस पर छा जायेंगे और उसके क्लिष्ट कर्मों के संस्कार उसको पकड़कर पटनी बना देंगे। एक क्षण में उसका ज्ञान काफूर हो जायेगा। उसकी बुद्धि संशय, मोह और भ्रम के दलदल में फँस जायेगी। इसलिए हर क्षण अपने खजाने की रखवाली करने के लिए चौकन्ना रहना है, जागते रहना है। जब काम क्रोधादि चोरों को यह पता चल जायगा कि साधक जागरूक है, पुरुषार्थ समन्वित है तो अपना इरादा छोड़कर वे मेल-मिलाप करना चाहेंगे। भगवान शिव से बड़ा योगी कौन होगा? जिनके विषय में तुलसीदास जी

कहते हैं :—

प्रभु समरथ सर्वज्ञ शिव,
सकल कला गुन धाम ।
जोग ज्ञान वैराग्य निधि
प्रनत कलप तरु नाम ॥

जिनकी कृपा के बिना योग, ज्ञान वैराग्य कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता वे शिव भावकों के सामने एक आदर्श उपस्थित करने के लिए निरन्तर अपने इष्ट के नाम में मन, चित्त में, चित्त लगाये रहते हैं। गोस्वामी जी लिखते हैं—संतत जपत संभु अविनासी।

अविनाशी शंकर नित्य निरन्तर जप और ध्यान में तल्लीन रहा करते हैं। फिर सामान्य जीवों की तो बात ही क्या है। हर श्वास में हर विचार में, हर धड़कन में, रग-रग में अपने इष्ट का स्मरण, मनन चिन्तन, जप, ध्यान होता रहना चाहिए। चलते-फिरते उठते-बैठते, सोते-जागते मन अपने श्रीगुरुदेव के चरण कमलों का ध्यान करता रहे। भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण के प्रेम की दीवानगी का वर्णन किया है कि एक पल को भी, "उठत-जागत, चलत, सोवत श्याम को न कहूं छवि बिसराइ।" कर्मेन्द्रियां अपना-अपना कार्य करती रहें पर मन उनके चरण कमल का भ्रमर बना रहे।

कर से कर्म करहु विधि नाना।
मन राखहु जहँ कृपा निधाना॥

भगवान से महर्षि नारद ने पूछा—भगवन आपको पाने का सरल उपाय क्या है? भगवान ने उत्तर दिया हे नारद! गोपिका भाव मेरी प्राप्ति का सरल उपाय है।

'गोपी भावेन देवेश! स मामेति नेतरः।'
(पद्मपुराण)

अपने को गोपी बना लें तो भगवत् प्रेमाभ्यास होता रहेगा। गोपी बनाने का तात्पर्य है इन्द्रियों को प्रभु के नाम, रूप, गुण और लीला धाम में लगा देना। श्रीमद्भागवत में भगवान वेदव्यास गोपियों के भाव का चित्रण करते हुए कहते हैं—

तन्मनस्कास्तदालापा
तच्चेष्टाः तत्परायणाः।
तन्नामानि गायन्त्यो
नात्मागाराणि सस्मरुः॥

गोपियां श्रीकृष्ण रस में इतनी पग गयी थीं कि उनके अन्दर-बाहर सर्वत्र श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण दिखाई देते थे। उनका मन श्रीकृष्ण के चित्त में सदा लगा रहता था। गीता में भगवान ने कहा है—

'मच्चित्तः सततं भव।'

अर्थात् हे अर्जुन! सदा मेरे चित्त में अपने चित्त को मिलाकर रखो। अर्थात् कर्ता भाव को छोड़कर अपने को मेरे हाथ की कठपुतली समझकर रहो। गोपियां गीता के इस उपदेश की साकार मूर्तियां थीं। वे अपने

हृदयेश, प्राणों के प्राण श्रीकृष्णजी से ही वार्तालाप करती रहती, वही भजना, घर का काम करना सारे कर्म श्रीकृष्ण के स्वागत, पूजा के लिए ही करतीं और उनका मन और चित्त इतना श्रीकृष्णमय हो जाता कि वे स्वयं को ही श्रीकृष्ण समझकर श्रीकृष्ण की लीलाओं का अभिनय करने लग जातीं। कोई वंशी बजाती तो कोई गाय दुहती, कोई मक्खन चुराती, तो कोई गोपी अभिनय करने लग जाती। वे अपना नाम, काम और धाम भी भूल जातीं। देह और गेह में ही तो संसार बसता है। गोपियां श्रीकृष्णमय बन गयी थीं। वे प्रेम में इतनी एकाकार हो गयी थीं कि उन्हें सहज समाधि लगी रहती थी। सतत-अभ्यास इसी का नाम है।

आनन्दकन्द श्रीगुरुदेवजी ने मनु महाराज के उपदेश का मुझे स्मरण कराया जिसमें उन्होंने कहा है कि द्विज जप से अशेष कर्मों का उच्छेदकर निर्विकारी विद्या से जन्म-मरण के चक्र से परे हो जाता है। विप्र पर मृत्यु का वश नहीं चलता। यदि विप्र चार गलतियां कर देता है तो मृत्यु का उस पर दांव चल जाता है। विप्र का तात्पर्य संयमशील साधना-परायण, परोपकारी, सर्वभूत हितेरताः प्राणी से है। किसी जाति विशेष से नहीं।

अनभ्यासेन वेदानाम्
आचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्न दोषाच्च मृत्युः
विप्रान् जिघांसति ॥

जो ब्रह्म ज्ञान का अभ्यास नहीं करता, स्वाध्यायशील जप ध्यान परायण नहीं रहता, यम-नियमों का पालन नहीं करता, आचार का उल्लंघन करता है, आलसी होता है तथा अखाद्य अन्न को खाकर अपनी जिह्वा को दूषित कर तेजहीन बन जाता है, उसे मृत्यु मार देती है। अतः अपना कल्याण चाहने वाले साधक को चाहिए कि अपनी दिन चर्या ऐसी बनी हुई रखे कि एक पल भी आलसी न रहे। सतत् उद्यमी बना रहे और नित्य निरन्तर जप एवं ध्यान का गुरु-निर्देशानुसार अभ्यास चालू रखा जाय। फल की आशा छोड़कर गुरुदेव प्रदत्त मन्त्र का जाप एवं ध्यान करने वाले साधक को श्री सद्गुरु की कृपा अवश्य मिलने लगती है।

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विश्वरूप दिखाकर योगी बनने का उपदेश दिया था। भगवान ने कहा—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु
योगयुक्तो भवार्जुन।
ध्यानयोग परो नित्यं
वैराग्यमाश्रिता ॥
१८/५२

बुद्धियोगमुपाश्रित्य
मच्चित्तः सततं भव।
१८/५७

योगी युञ्जीत सततम्
आत्मानं रहसि स्थितः ॥
६/१०

तस्मात्सर्वेषु कालेषु
मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पित मनोबुद्धि
र्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
८/७

अनन्यचेताः सततं यो
मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ
नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
८/१४

सततं कीर्तयन्तो मां
यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या
नित्ययुक्ता उपासते ॥
९/१४

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां
ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यहम् ।
९/२२

तेषां सतत युक्तानां
भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं
येन मामुपयान्ति ते ॥
१०/१०

मय्यावेश्य मनो ये मां
नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते
मे युक्ततमाः मताः ॥
१२/२

श्रीमद्भगवद्गीता में तेरह बार सतत अभ्यास का उपदेश दिया गया है। कहीं यह उपदेश 'नित्ययुक्त' शब्द से कहा है तो कहीं 'सतत' शब्द से। भगवान ने शक्तिपात से अर्जुन को योग मार्ग में दीक्षित कर कहा कि अब तू नित्य ध्यान योग तथा वैराग्य का अभ्यास करता रह, नहीं माया का आवरण तेरी बुद्धि को ढाक लेगा और तू फिर मोह के चक्कर में फँस जायेगा। रामकृष्ण परमहंस कहते थे—जल के ऊपर काई छा जाने से जल के अन्दर का दिखाई नहीं पड़ता उसी प्रकार माया के आवरण से ज्ञान ढक जाता है। जो जल बहता रहता है उसमें काई नहीं ठहरती। इसी प्रकार जो निरन्तर ध्यान जप में लगा रहता है उसकी बुद्धि विकार-ग्रस्त नहीं हो पाती। बुद्धि योग का सहारा लेकर नित्य निरन्तर एकान्त में सभी काल में, क्या दिन क्या रात सभी समय अपने मन और चित्त को इष्टदेव के स्मरण और चिन्तन में लगाकर रखे। अपने मन की डोर उनके हाथ में हर समय सौंपे रहे। फिर उनका होकर युद्ध करने पर जय पराजय स्वामी की ही होगी, साधक कर्म बन्धन से बेदाग छूट

जायगा। कहते हैं—द्रौपदी विपत्ति आने पर श्रीकृष्ण को भूलकर दूसरों का भरोसा करने लगी। उसकी विपत्ति बढ़ती ही गई। फिर दुःखी होकर उसने पुकारा, हे यदुनन्दन! मेरी लाज बचाओ। जब तक उसे अपनी लाज की चिन्ता रही श्रीकृष्ण की कृपा नहीं हुई। जब आर्तभाव से द्रौपदी ने कहा—हे प्रभु आपकी लाज लुट जायगी। भगवान साड़ी के रूप में अपने यश की रक्षा के लिए दौड़ पड़े। सतत स्मरण, कीर्तन जप ध्यान प्रीति पूर्वक करने वाला साधक प्रभुकृपा का आकर्षण कर लेने वाला बन जाता है। प्रभु इसी प्रकार से साधक का योगक्षेम निर्वाह किया करते हैं।

अर्जुन ने सोचा साक्षात् नारायण मेरे गुरु और सखा हैं। उन्होंने कृपाकर मुझे दिव्य दृष्टि प्रदान कर विश्वरूप का दर्शन करा दिया है। मेरा मोह नष्ट हो ही गया है। अब मैं योगी बन गया। अब मुझे क्या जरूरत है जप ध्यान तथा समाधि की। प्रमाद करने से अर्जुन का चित्त भ्रमित हो गया और प्रभु की माया ने अर्जुन की बुद्धि को मोह ग्रस्त कर दिया। एक दिन अर्जुन दुःखी होकर भगवान से बोला—

यत् तद् भगवता प्रोक्तं
पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र
नष्टं मे भ्रष्ट चेतसः॥

महाभारत आश्व १६/५

हे केशव! आपने सखा भाव से जो दिव्य ज्ञान मुझे दिया था, वह सम्पूर्ण ज्ञान चित्त-वृत्तियों के चञ्चल होने के कारण विस्मृत हो गया। कृपा कर फिर वह ज्ञान देकर मुझे शोक सागर में डूबने से बचा दें।

भगवान समझ गये कि अर्जुन आलस्य के वशीभूत होकर अपनी पूँजी गँवा बैठा है। उसका कारण यह रहा कि उसने भगवान में सखा बुद्धि रखी। यदि गुरु बुद्धि रही होती तो मन में शिथिलता नहीं आती। हालांकि विश्वरूप दर्शन के समय अर्जुन को अपनी मूर्खता पर पछतावा हुआ थी—सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव! हे सखेति! अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥ हे प्रभु मैंने प्रेम के वश होकर आपको अपना मित्र मानने की जो भूल की है उसे क्षमा कीजिए। मैं नहीं जानता था कि आप चराचर के स्वामी अज, अनन्त, सर्वान्त-र्यामी अच्युत हैं।' अर्जुन फिर भगवान को अपना मित्र समझकर श्रद्धाभाव में कमी कर विषाद ग्रस्त हो गया तो भगवान ने कह दिया हे अर्जुन उस समय योगयुक्त होकर मैंने तुझे वैसा कीमती उपदेश दिया था। यह तूने अच्छा नहीं किया कि उसे भुला दिया। अब पुनः मैं उसे दुहरा नहीं सकता। उस समय तेरा संस्कार संयोग उसको सुनने का था। सोये हुये को तो जगाया जा सकता है। जो जाग-कर सोता है उस पर कैसे कृपा की जा सकती

है। रामकृष्ण परमहंस कहा करते—हर साधक को अपना साधन भजन नियम से करते रहना चाहिए। स्थिति प्राप्त होने पर भी इसमें प्रमाद नहीं करना चाहिए। जिनका लोटा सोने का है उन्हें रोज-रोज उसे मांजने की जरूरत नहीं है पर जिनकी लुटिया पीतल की है, उन्हें तो हर रोज उसे मांजना ही चाहिए। सोने के लोटे को भी लाभ में कभी-कभी तपाने की आवश्यकता है तभी उसकी शुद्धता प्रमाणित रह पाती है। तन्त्रों में कहा गया है कि सिद्ध कोटि में पहुँच जाय तो भी मन्त्र तथा गुरु का त्याग न करे। अन्यथा वह सब कुछ गँवा कर दरिद्री बन जाएगा और जन्म-मरण के चक्कर में पड़ जायगा।

> गुरुत्यागी लभेन्मृत्युं
> मंत्रत्यागी च दरिद्रताम्।
> गुरु मंत्र परित्यागात्
> सिद्धोऽपि नरकं व्रजेत्॥

जो गुरुदेव तथा उनके उपदेशों पर आचरण करने में प्रमाद करता है, सोचता है-यों ही कह दिया है, महात्मा लोग ऐसा ही कहते रहते हैं, कोई खास बात नहीं है आदि-आदि वह सिद्धकोटि में पहुँचकर भी नरकगामी बन जाता है क्योंकि कर्म बीज नाश तथा प्रारब्ध का भुगतान भी गुरुदेव की कृपा के बिना हो ही नहीं सकता। यह गुरु सत्ता ही ईश्वर कहलाती है। 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।' यो. दर्शन। यह ईश्वर अनादि होने से गुरुओं का भी गुरु है। उस गुरु सत्ता की कृपा से ही समाधि सिद्धि होती है। (समाधि सिद्धिः ईश्वर प्रणिधानात्) समस्त कर्मों का विच्छेदन भी परमप्रभु ईश्वर की कृपा से होता है। अतः गुरुदेव में ईश्वर बुद्धि रखने वाला साधक अपने लक्ष्य को शीघ्र पा जाता है। उनमें मनुष्य बुद्धि रखने वाले साधक की स्थिति अर्जुन जैसी हो जाया करती है।

जो योगी सतत अभ्यासशील होते हैं वे अपनी ताकत के खुद मालिक हुआ करते हैं। अन्यथा उन्हें दूसरों की कृपा के सहारे भीख माँगकर जीवन बिताना पड़ता है हमारे परमाराध्य श्री गुरुदेव अपने भक्तों से इसीलिए कहा करते हैं कि अपनी कमाई करो— 'अदीना स्याम शरदः शतम्' की शिक्षा को अपने जीवन में सार्थक करो और योगी बनो। क्योंकि योगी ही अदीन हो सकता है बाकी अन्य प्रकार की उपासनाओं से व्यक्ति भिखारी बनता है। महाभारत में एक बहुत प्रेरणादायक उपदेश है। उसमें कहा गया है कि जैसे अपने घर की वस्तुएँ स्टोर में रख देने पर भी मनुष्य का मन उन वस्तुओं की चिन्ता किया करता है। उसी प्रकार साधक को चाहिए कि इन्द्रिय द्वारों में चञ्चल होकर भागने वाले मन को अपने हृदय रूपी स्टोर में एकत्रित करके आलस्य छोड़ लक्ष्यानुसंधान करता रहे। इस प्रकार सतत प्रयत्नशील पुरुष का चित्त ध्यान योग से प्रसन्न हो जाता है

जिससे वह परमब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। जिसके साक्षात्कार से साधक को प्रकृति और उसके विकारों का स्वतः ज्ञान हो जाता है जिससे उसमें प्रकृति के धर्मों से पर वैराग्य हो जाता है।

यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य
भाण्डं भाण्डमना भवेत्।
तथा स्वकाये निक्षिप्य
मनोद्वारैर निश्चलैः॥
आत्मानं तत्र मार्गेण
प्रमादं परिवर्जयेत्।
एवं सततमुद्युक्तः
प्रीतात्मा नचिरादिव।
आसादयति तद् ब्रह्म यद्
दृष्ट्वा स्यात् प्रधानवित्।

शान्ति १९/४५-४७

सततभ्यास ही सबसे बड़ा तप है व्यास-देव जी महाराज का मत है कि जो तपस्वी नहीं है उसे योग में पूर्णता नहीं मिल सकती। महाभारत में भी यही उपदेश है कि—'तपस्वी सततं युक्तो योगाभ्यासपरायणः। मनीषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि॥ अर्थात् मनीषी साधक को चाहिए कि वह सदा तप में प्रवृत्त रहकर योग शास्त्र में निर्दिष्ट उपायों से मन के निग्रह द्वारा सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास द्वारा कैवल्य प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील बना रहे। वेदान्त शास्त्र में भी 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (४/१) सूत्र में साधक को उपदेश दिया गया है कि साधक को बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए कहे गये हैं। दोनों उपाय एक डाल में लगे दो फलों की तरह जुड़े हुए हैं। दोनों का ही एक साथ अनुष्ठान करना चाहिए। साधक को चाहिये कि प्रमाद छोड़कर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाय। निश्चय करने में जल्दबाजी न करे। एक बार निश्चय कर लिया कि योग मार्ग पर चलकर आत्म कल्याण करना है तो फिर पूरे मन से अपने गुरु प्रदत्त साधन में जुट जाय। जैसे किसी व्यापारी को किसी ज्योतिषी ने यह बता दिया कि शक्कर के व्यापार में लाभ होगा। यदि वह व्यापारी यह जान-कर सन्तोष कर ले कि मुझे ज्ञान हो ही गया कि शक्कर के व्यापार से लाभ होगा। अब लाभ हो ही जायगा, व्यापार करने की क्या जरूरत है? ऐसा सोचने से कुछ भी नहीं होगा। क्रिया द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती है। जब तक मनुष्य में देह बुद्धि विद्यमान है तब तक उसे देह से इन्द्रियों से उपाय और प्रयत्न करने पड़ेंगे तभी कुछ हाथ लगेगा। जब देहा-ध्यास नष्ट हो जायगा तो उसे मन से क्रिया करनी पड़ेगी। अन्त में बुद्धि से चिन्तन करना पड़ेगा जब साधक ऋतम्भरा बुद्धि से पूरी तरह जुड़ जायगा, ज्ञान पूरा हो जायगा तो कर्म करने का झगड़ा मिट जायगा। फिर प्रारब्ध संस्कार वश वह कर्म करेगा या लोक शिक्षा के लिए निष्काम-कर्म करेगा। हम गंगा प्रवाह के समान सतत कर्मरत रहकर निरन्तर अभ्यास करते रहें, तभी जीवन में प्रकाश होगा। तभी हम अनेक जन्मों से अपने साथ जुड़े हुये संसार की बेड़ियों को काटकर मुक्त हो सकेंगे।

मन की दौड़

श्रीमती सरिता भारद्वाज, एम.ए. बी.एड.

मन एक पंछी की तरह इच्छाओं के आकाश में हर समय दौड़ लगाता रहता है। यह इतना आकांक्षाओं है कि इन्द्रियों के जाल को भी ले उड़ता है। इन्द्रियां उसके इशारे पर चला करती हैं। योग शास्त्रों में 'इन्द्रियाणां मनोनाथः' कहकर मन को इन्द्रियों का स्वामी स्वीकार किया गया है। यह मन भागते-भागते कभी थकता नहीं। पर इन्द्रिय सुखों के पीछे भागते-भागते इसकी कभी तृप्ति भी तो नहीं होती। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय सुखों के पीछे यह मन दौड़ता होता है त्यों-त्यों मृगतृष्णा के पीछे भागने वाले हरिण की तरह संसार के जाल में फँसता चला जाता है।

ज्यों ज्यों यह जाल परि,
मन कुरङ्ग अकुलात।
ज्यों-ज्यों छूटि भज्यौ चहत,
त्यों-त्यों उरझत जात॥

मन जितना दौड़ता है, उतना वृत्तियों का प्रवाह प्रबल होता है। वृत्तियों से संस्कार का चक्र बनता है और संस्कार चक्र से जन्म-मरण, जाति आयु सुख-दुःख का भोग चलता रहता है। यही संसृति मूल अविद्या का स्वरूप है। मन में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की शुभ वृत्तियां सुख की जनक हैं और अशुभ वृत्तियां दुःख की। शुभाशुभ वृत्तियां अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष, अभिनिवेश रूप क्लेश का कारण बनती हैं। इन्हीं से प्रमाण, विकल्प, संशय, निद्रा आदि वृत्तियों की धाराएं प्रवाहित होती हैं। इन वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर चित्त निरुद्ध हो जाता है। या दूसरे प्रकार से यों समझना चाहिए कि मन की दौड़ समाप्त हो जाने पर वृत्ति तथा संस्कार-चक्र स्वमेव क्षीण हो जाता है।

प्रश्न यह उठता है कि मन चञ्चल क्यों है? बिना कारण तथा प्रयोजन के कोई कार्य नहीं होता। यदि यह मान लिया जाय कि पीपल के पत्ते की तरह मन का चञ्चल बना रहना उसका स्वभाव है तो यह बात तर्क संगत नहीं लगती। स्वभाव का भी कोई प्रयोजन होता या कारण होता है। मन को किसी की तलाश है। उस तलाश में खोज में वह भटकता ही रहता है। जैसे मरुभूमि में मृग जल की तलाश में कभी इधर दौड़ता है, कभी उधर। और सूर्य की किरणों के रेत में पड़ने पर उनमें उसे जल का भ्रम हो जाता है जिससे वह रेगिस्तान के अन्दर

जल की खोज में भ्रमवश प्यासा ही मर जाता है। मृग को तलाश तो ठीक है, प्यास के लिए पानी चाहिए। प्यास न घी से, न दूध से बुझ सकती है। हालांकि घी और दूध पानी से काफी महंगे हैं। जिस वस्तु में जिस कार्य की सामर्थ्य है उसी से वह कार्य सम्भव होता है। मृग की तलाश की दिशा गलत होने से उसे प्राणों से हाथ धोने पड़ते हैं। यह भ्रम ही दुःख का कारण है। कुत्ते को भ्रम हो जाता है कि हड्डी में रक्त है उसके खाने से उसकी तृप्ति होगी। इसी भ्रम में कुत्ता सूखी हड्डी बड़े मजे से खाता है। उस हड्डी की चुभन से लहूलुहान हो जाता है। वह समझता है कि यह रक्त उसे हड्डी से प्राप्त हो रहा है। वस्तुतः यह रक्त उसका अपना ही है। भ्रमवश उसे अज्ञान हो गया। भ्रम, भेद और अविद्या ये तीन ही माया का स्वरूप है। भ्रम से भेदबुद्धि हो जाती है और अविद्या घेर लेती है। भारत के इतिहास का प्रथम राजदूत अङ्गद रावण की सभा में जाकर रावण को उचित सलाह देता है। रावण अपनी कूटनीति का प्रयोग करके अङ्गद के मन में भ्रम और भेद का संस्कार करने की चेष्टा करने लगता है वह अङ्गद से राम की बुराई करके उसे अपने पक्ष में लेना चाहता है। अङ्गद का मन एकाग्र था इसलिए वह भ्रम और भेद के चक्कर में नहीं पड़ता। अङ्गद रावण को मुंहतोड़ जवाब देता है—

सुनि सठ भेद होइ मन ताकें।
श्री रघुबीर हृदय नहिं जाकें॥

योगनिष्ठ अङ्गद का मन एकाग्र था इसलिए रावण का राज्य सुख लोभ तथा अन्यान्य प्रकार से कामनाओं की तृप्ति का लालच उसे विचलित नहीं कर सका और वह अपने मिशन में सफल होकर भगवान् श्रीराम के पास वापस आ सका। अङ्गद के जीवन में योग और भक्ति का सामंजस्य था। वह कामनाओं के पीछे दौड़ लगाने वाला नहीं था। अतः उसे इस सत्य का ज्ञान हो गया कि वह दुःख का फलदाता है तथा वह सदा रहने वाला भी नहीं। केवल मृगतृष्णा की तरह एक भुलावा है अतः समझदार लोग उस इन्द्रिय विषयरस की चाह नहीं करते प्रत्युत वे ऐसे रस की चाह करते हैं, जिससे तृप्त होकर योगी इन्द्र के ऐश्वर्य को भी तुच्छ समझता है और स्वामी राम की तरह अपने को शाहंशाह माना करता है। जिसकी चाहना मिट गयी वह स्वयं में स्थिर होना जान लेता है। चाहना, कामना ही मन की दौड़ है। यही वृत्तियों का प्रवाह है। चाहना अनेकों तरह की होती है और सारे संसार का ऐश्वर्य पाकर भी वह सन्तुष्ट नहीं होती। कामना एक के बाद एक रूप रखकर सामने खड़ी रहती है। कभी उसकी भूख मिटती ही नहीं। इसकी पूर्तिके जितने साधन जुटाये जाते हैं वह उतनी भूखातुर होने लगती है। कामना की विशेषता है कि वह अनेकाश्रित होती है।

जैसे धन की कामना हुई तो वह एक स्रोत से धन प्राप्त करने पर सन्तुष्ट नहीं होगी। नौकरी, रोजगार से लेकर लाटरी, शेयर, जुआ, टैक्सचोरी और दूसरे का धन हड़पने दूसरों की हत्या कर उसका धन छीनने आदि नाना उपायों और स्रोतों से वह अपनी तृप्ति करना चाहती है। कामनाओं का दूसरा लक्षण है कि उसे साधन से उसे कभी सन्तोष नहीं मिलेगा। भूख होने पर तो जिसे रूखा-सूखा मिल गया उसे खाकर ही उसकी भूख शान्त हो सकती है किन्तु भूख के साथ-साथ भोजन की चाह हो तो भूख मिटने पर भी दूसरे की बढ़िया रोटी को देखकर मन उसे भी खाना चाहेगा। चाहे उदर में गुंजाइश न हो। वमन करके भी खाना चाहेगा। कामनाएं व्यक्ति को बेचैन बनाये रखता है। धनी लोग प्रायः सबसे अधिक बेचैन होते हैं। उनमें काल्पनिक भय, काल्पनिक चिन्ताएं और अकारण तनाव तथा नाना प्रकार के मनोरोग (Complexes) हो जाते हैं। कारण स्पष्ट है। वे कामनाओं का ताना-बाना बुनते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने सरल शब्दों में अर्जुन के माध्यम से प्राणिमात्र को उपदेश दिया कि यदि सुख और [illegible] चाहते हो तो अपनी कामनाओं को समेटकर एक में इकट्ठा कर लो। अनेक कामनाएं मन को दुर्बल और कमजोर कर आत्मिक बल को लूटा देती हैं। यदि सारी कामनाएं एकत्र और एकजुट, एकनिष्ठ बना दी जाय तो उससे मन की शक्ति का निर्माण होता है जिसे सङ्कल्प-शक्ति (Will power) कहते हैं। सङ्कल्प-शक्ति मन की चाहनाओं को एक लक्ष्य में इकट्ठा करने का नाम है। जो इस रास्ते पर चलना सीख लेता है वह शान्ति का वरण करता है—

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।

जो विषय इन्द्रियों के संयोग से सुखदायी लगते हैं वे खाज और खुजली को खुजाने के तरह थोड़े समय तक ही सुख देते हैं। परिणाम में वह विषतुल्य बन जाते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगाः
दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय
न तेषु रमते बुधः॥
(गीता)

मन शान्ति चाहता है, तृप्ति चाहता है और सुख चाहता है। इसी की खोज में वह दौड़ लगाया करता है। उसका स्वभाव अन्वेषणदर्शी है। मन नकद सौदे में भरोसा रखता है। जिस वस्तु या व्यक्ति में उसे सुख प्रतीत होता है उसी की वह चाहना करने लगता है। उसी में प्रवृत्त होने लगता है। प्रवृत्ति से मन राग का बन जाता है। [illegible] तृप्त न होती तथा उसे दुःख [illegible] लगता है तो मन दुःखयुक्त बन जाता है। इसी क्रम से

राग-द्वेष, आशा तृष्णा, और मनोविकार का का जन्म होता चला जाता है। विषयों का सेवन करते-करते उनके प्रति मन में इतनी अधिक आसक्ति हो जाती है कि वह मोह-ग्रस्त हो जाता है। अपनी विद्या तथा बल से जब सुख-साधनों को जुटाने में सफल हो जाता है तो उसमें अभिमान का वृक्ष उग जाता है। अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए जिन-जिन प्राणियों को दुःख देता है वे ही जीव जन्म लेकर अपना बदला चुकाने के लिए उसे दुःख-सुख देने आते हैं और इसी प्रकार संसार-चक्र बढ़ता चला जाता है। जिसका अन्त नहीं होता। शुभ कर्मों से भी राजस अहंकार हो जाता है। अतः किसी भी प्रकार की कामना जीव को कल्याण भाजन नहीं बना पाती।

मन की शक्ति और स्वभाव को पहचान कर हमारे ऋषियों ने मन को इकट्ठा कर एक पिण्ड बनाकर इससे परमात्मा के आनन्दमय सागर से तृप्त करने का मार्ग खोज निकाला वह मार्ग योग मार्ग है जिसमें स्थिति हो हो जाती है —

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, वे शाहन के शाह।।

जिसे कुछ नहीं चाहिए वह आलसी और तमोगुणी हो जायगा एक महात्मा इस दोहे को इसी रूप में समझाया करते थे। जो सर्व शक्तिमान व्यापक आनन्दसागर परमात्मा की चाह पैदा कर लेता है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के सिद्धान्तानुसार अपनी चाह का ही रूप बन जाता है। जैसे जिसने विद्या की चाह पैदा कर ली वह एक दिन विद्वान बन गया। जिसने धन की चाह पैदा की वह एक दिन धनी बन गया। जिसने काम की चाह पैदा की कामी। इस तरह जिसने प्रभु के नाम रूप की चाह पैदा कर ली उसने संसार के सुख को तुच्छ बनाने वाली सुखराशि को प्राप्त कर लिया। 'नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात।' तथा —

सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे।
आवत हृदय सनेह विशेषे।।

जब मन नाम और प्रभु के रूप का लोभी बन जाता है तो उसकी दौड़ समाप्त हो जाती है। 'जैसे उड़ि जहाज को पंछी, पुनि जहाज पर आवै।'—एक पक्षी जहाज पर मौज से बैठा था। उसकी इच्छा हुई कहीं एक जगह पर बैठ गया। चलकर संसार का 'रङ्ग-ढङ्ग देखूं'। मौजमस्ती छूटी। वह उड़ने लगा। उड़ते-उड़ते परेशान होने लगा। निरा-धार निरालम्ब आकाश में आखिर कितनी देर उड़ सकेगा? तभी किसी गुरु ने समझाया 'मूर्ख उड़ते-उड़ते मर जायगा, कुछ प्राप्त नहीं कर सकेगा। सुखपूर्वक जहाज पर बैठ और उसकी रवानगी में ही अपनी मौज-मस्ती ले। चलेगा वह किन्तु पहुँचेगा तू! एक किनारे पर एक दिन।' नादान क्यों करता

है ? बैठा रह एक जगह। स्थितप्रज्ञ बन। व्यवसायात्मिका बुद्धि से सुख नहीं मिलता क्योंकि उसकी अनन्त शाखाएं और परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां होती हैं। खींच-तान में सारा काम गड़बड़ हो जायगा।

एक भौंरा रस चाहता था। उसने सुन रखा था कि फूलों के पास मधुरस होता है। भौंरा उड़कर चल दिया एक प्रफुल्लित कमल के पुष्प के पास। उसके पास मंडराने लगा। दौड़ने लगा। चक्कर काटने लगा। गुरु को उसकी नादानी पर रहम आ गया। गुरु ने कहा ए रस के लोभी भ्रमर! इस तरह मधुरस कभी नहीं मिलेगा। बैठ जा! पहले शान्त होना सीख। अपने पंखों को चारों ओर से समेट ले। बुद्धि में निश्चय कर ले कि पुष्प से ही तेरी तृप्ति होगी। उसका रसपान करने से ही तृप्ति होगी। केवल दूर से देखने से रस नहीं मिलेगा। एकचित्त एकाग्र और एकाग्रेवनिष्ठ होकर मौन, मौन, निश्चेष्ट हो बैठ जा। फिर देखना तुझे रात और दिन का भी होश नहीं रहेगा। रात को कमल के फूल में बन्द होने पर भी तुझे छटपटाहट नहीं होगी 'धनबैन स्वपर्यात-हे—मैं जा'। इतना मस्त हो जायगा तू मधुपान में कि हाथी भी यदि कमल को उखाड़ दे तो भी कुछ भान नहीं होगा। तू अमृतत्व को पाकर अभय हो जायगा। भ्रमर बात मान गया। उसने रुककर मधुपान किया और वह तृप्त हो गया।

श्री गुरुदेव की करुणकृपा होने पर यह जीव भ्रमर बन जाता है तब उसे मधुपान का सौभाग्य मिलता है। उनकी करुणाकृपा के अभाव में यह जीव एक मक्खी की तरह बना रहता है जो कभी गन्दगी पर बैठती है तो कभी संयोग से फूल पर बैठ जाती है। श्री गुरुदेव प्रसन्न होकर इस मन की दौड़ को खत्म करने के लिए मन्त्र दीक्षा देते हैं। उस मन्त्र से मन उस मन्त्र में व्याप्त आत्मिक परमाणुओं से अभिभूत होते-होते एक दिन पूर्णरूपेण आत्मिक तेज को पुञ्ज बन जाता है जब मन में मन्त्र पूर्णतया रम जाता है तो मन मधुपान करने वाले भ्रमर की तरह निश्चल- निष्पन्द तथा निःशब्द हो जाता है। मन एक समय में एक ही विषय को ग्रहण करने के स्वभाव वाला है। यह उसकी शक्ति का रहस्य भी है और यही उसको पकड़कर बांधने का उपाय भी है। उसे केवल एक कार्य में देर तक लगाये रहने पर वह वहां बैठकर रहने लगता है। एक किसी व्यक्ति को एक भूत सिद्ध हो गया। भूत बोला—मैं तुम्हारे वश में हूँ। जो कुछ कहोगे तुरन्त कर दूंगा। किन्तु एक शर्त है—यदि मुझे कुछ करने को नहीं दोगे तो तुम्हें खा लूंगा। व्यक्ति ने भूत को बड़े-बड़े काम दिये यह सोचकर कि बहुत समय तक इसमें वह भूत उलझा रहेगा। लेकिन उसकी आशा के विपरीत हुआ। भूत

जीवात्मा एवम् परमात्मा

❀ श्री पूर्णचन्द्र पन्त, शास्त्री

पूर्व प्रकाशित लेखों में उपनिषदोक्त अष्टाङ्ग योग का वर्णन किया गया था। इस लेख में जीवात्मा एवं परमात्मा का स्वरूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है:—

जीवात्मा का स्वरूप

जीवात्मा परमेश्वर का ही सनातन अंश है उसका वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दमय है, किन्तु माया के वश में होने के कारण उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता। वस्तुतः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को प्रेरित करने वाला तथा चेतनता प्रदान करने वाला चेतन तत्व आत्मा ही है। गीता में अखिल लोक नायक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है:—

ममैवांशो जीवलोके
जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि
प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
(गीता १५/७

अर्थात् देह में स्थित यह जीवात्मा मुझ परमेश्वर का ही सनातन अंश है। यही जीवात्मा त्रिगुणमयी माया में स्थित हुई इन्द्रियों तथा मन को खींचता (प्रेरित करता) है। रामचरित मानस में भी कहा गया है—

(पिछले पृष्ठ का शेष)

ने आनन-फानन में सब काम कर दिये और बोला—काम दो नहीं तो तुम्हें खाता हूँ। वह व्यक्ति घबरा उठा। जो भी काम देता तुरन्त हो जाता। उसने अपने गुरु से युक्ति पूछी। गुरु ने कहा—एक बांस पर इसे चढ़ने-उतरने का काम देकर निर्भय हो जाओ। भूत को बांस पर चढ़ने उतरने काम सौंपकर वह निश्चिन्त हो गया। हमारा मन ही भूत है और षट् चक्र बांस है। मन्त्र-जप से चक्रों का वेधन करने से मन की बाहरी दौड़ समाप्त हो जाती है उसकी दौड़ अन्दर को चल पड़ती है। अन्तर्मुखी वृत्ति से संस्कारों का क्षय होता है। बहिर्मुखी वृत्ति से संस्कारों का जन्म होता है। अन्तर्मुखी वृत्ति से सङ्कल्प-शक्ति का जन्म होता है, जिससे व्यक्ति के चरित्र में दृढ़ता आती है तथा वह जैसा सोचता है वैसा होता है। वह सत्य सङ्कल्प अमोघवाक् तथा इच्छानुसार गमन करने की सिद्धि सामर्थ्य वाला बन जाता है।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।
चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

कठोपनिषद् का भी यही कथन है कि— यह आत्मा अजर, अमर एवं नित्य ज्ञानस्वरूप है। जैसे:—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं
कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
(कठोपनिषद् १/२/१८)

नित्य ज्ञानस्वरूप यह आत्मा न तो जन्म लेता है और न मरता ही है। यह न स्वयं किसी से हुआ है और न इससे कोई भी हुआ है। अतः यह कार्य कारण से भी परे है। यह आत्मा अजन्मा है, नित्य है, सदा एक समान रहने वाला तथा क्षयवृद्धि से रहित है। शरीर के नाश किये जाने पर इसे मारा नहीं जा सकता।

यह आत्मा शरीर रूपी रथ का स्वामी है और बुद्धि उसका सारथी है। अतः बुद्धि रूपी सारथी को सावधान रहने की आवश्यकता है—

आत्मानं रथिनं विद्धि
शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि
मनः प्रग्रहमेव च ॥
(कठो० १/३/३)

इन्द्रियाणि हयानाहु-
र्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं
भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
(कठो० १/३/४)

जीवात्मा को ही शरीर रूपी रथ का सवार समझो और शरीर को ही रथ समझो, बुद्धि को रथ चलाने वाला सारथी समझो और मन को ही लगाम समझो। इसी प्रकार इन्द्रियाँ उस रथ के घोड़े और सांसारिक भोग विषय उन घोड़ों के चलने का मार्ग है। शरीर, इन्द्रिय, मन इन सबके साथ रहने वाला जीवात्मा ही उन विषयों का भोक्ता है॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जीवात्मा का स्वरूप और भी स्पष्टीकरण के साथ समझाया गया है। जैसे:—

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/८)

बालाग्रशतभागस्य शतधा
कल्पितस्य च ।
भागो जीवः विज्ञेयः स
चानन्त्याय कल्पते ॥
(श्वे० ५/९)

नैव स्त्री न पुमान चैव
न चैवायं नपुंसकः ।

यद् यच्छरीरमादत्ते
तेन तेन स युज्यते ॥
(श्वे० ५/१०)

जीवात्मा अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला और सूर्य के समान प्रकाशमय है। वह संकल्प और अहङ्कार से युक्त हो रहा है। अतः संकल्प रूप बुद्धि के गुण से तथा अहंता-ममता रूप अपने गुणों से सम्बद्ध होने के कारण वह सुई की नोक के समान सूक्ष्म आकार वाला है। परमात्मा से भिन्न इस प्रकार का भी जीवात्मा का स्वरूप ज्ञानीजनों द्वारा देखा गया है।

जीवात्मा का आकार इतना सूक्ष्म है कि बाल की नोक के सौवें भाग के फिर भी भाग कर दिये जाने पर जो एक भाग होता है उसी के बराबर जीवात्मा का स्वरूप समझना चाहिये। इतना सूक्ष्म होने पर भी वह असीम होने में समर्थ है।

यह जीवात्मा न स्त्री है न पुरुष है और न यह नपुंसक ही है। यह जिस जिस शरीर को ग्रहण करता है उस उस से सम्बद्ध हो जाता है।

कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली के प्रथम मन्त्र में कहा गया है—जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों ही मानव शरीर में बुद्धिरूपी गुफा में छिपे हुए हैं और वे धूप और छाया की भाँति सदा साथ रहते हुये भी एक दूसरे से भिन्न हैं। जीवात्मा छाया की भाँति अल्पप्रकाश और अल्पज्ञ है किन्तु परमात्मा धूप की भाँति पूर्ण प्रकाश और सर्वज्ञ है। जिस प्रकार छाया में अल्प प्रकाश भी उसका निजी नहीं होता धूप का ही होता है उसी प्रकार जीवात्मा का अल्पज्ञान भी उसका अपना नहीं प्रत्युत उन विज्ञान स्वरूप परमेश्वर का ही रहता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में दो पक्षियों के दृष्टान्त से इस विषय को समझाया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(श्वे० उ० ४/६)

सदा साथ रहने वाले तथा परस्पर मित्रता रखने वाले जीवात्मा और परमात्मा रूप दो पक्षी एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर हृदय रूपी घोंसले में एक साथ निवास करते हैं, उनमें से एक तो उस वृक्ष के फलों को स्वाद ले-लेकर खाता रहता है और दूसरा उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है। अर्थात् जीवात्मा तो इहलोक का अनुभव करता हुआ कर्म फलों को भोगता है और दूसरा पक्षी रूप ईश्वर इस शरीर में प्राप्त हुए सुख दुःखों को भोगता नहीं केवल द्रष्टा बना रहता है।

गीता के १५ वें अध्याय में प्रकृति और जीवात्मा को क्षर-अक्षर नामों से वर्णित किया गया है तथा परमात्मा को पुरुषोत्तम कहकर उन दोनों से श्रेष्ठ तत्त्व बताया है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके
क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि
कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः
परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य
बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम-
क्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च
प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

इस संसार में क्षर और अक्षर ये दो प्रकार के पुरुष हैं, उनमें सम्पूर्ण प्राणियों के भौतिक शरीर तो क्षर (नाशवान) हैं और जीवात्मा अक्षर अर्थात् अविनाशी कहा जाता है। इन दोनों से भी उत्तम पुरुष तो कोई अन्य ही है जो तीनों लोकों में व्याप्त होकर सबका भरण-पोषण कर रहा है। क्योंकि मैं परमेश्वर नाशवान जड़ से तो सर्वथा अतीत हूँ और माया में स्थित जीवात्मा से भी उत्तम हूँ। इसलिए मैं तीनों लोकों में और वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ। इस प्रकार परमात्मा का ही अंश होते हुये भी जीवात्मा सिन्धु और बिन्दु की भांति उससे भिन्न है।

प्रकृति अथवा माया

जीवात्मा को परमेश्वर से दूर रखने वाली और जीव को बन्धन में डालने वाली इन दोनों के बीच एक तीसरी शक्ति काम करती है, जिसे शास्त्रों में कहीं प्रकृति कहा गया है और कहीं ईश्वर की अव्यक्त माया कहकर वर्णित किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरित मानस में बड़े ही सरल शब्दों में माया का स्वरूप इस चौपाई में दर्शाया है:—

मैं अरु मोर, तोर तैं माया।
जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥

वस्तुतः अहंता, ममता, राग, द्वेष आदि ही माया के धर्म हैं। जीवात्मा इनसे जकड़ा होने के कारण ही परमार्थ से भटका रहता है। जीव इस माया से किस प्रकार प्रभावित रहता है इसे गीता के ७ वें अध्याय में इन श्लोकों के अन्दर समझाया गया है:—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः
सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति
मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी
मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते
मायामेतां तरन्ति ते ॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः
प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना
आसुरं भावमाश्रिताः ॥

गुणों के कार्यरूप सात्त्विक, राजस, तामस इन तीनों प्रकार के भावों से अर्थात् रागद्वेष आदि विकारों से यह सारा संसार मोहित हो रहा है। इसलिए जीवात्मा इन तीनों गुणों से अतीत मुझ अविनाशी परमेश्वर को तत्त्व से नहीं जानता। क्योंकि मेरी यह त्रिगुणमयी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो व्यक्ति मेरे को ही निरन्तर भजते हैं वे उस माया को पार कर जाते हैं। माया द्वारा हरे हुये ज्ञान वाले और आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए दुराचारी नीच मनुष्य मुझ परमेश्वर को नहीं भजते।

योग-दर्शन में इसी माया के लिए 'दृश्य' शब्द का प्रयोग किया गया है और इसकी परिभाषा बताते हुये लिखा है:—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

(योग-दर्शन २/१८)

प्रकाश क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, पञ्चमहाभूत, इन्द्रियां, मन, बुद्धि और अहङ्कार जिसका स्वरूप है, जीवात्मा के लिए भोग और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है—वही दृश्य है।

इस प्रकार सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण और इनका कार्य जो कुछ भी देखने, सुनने और समझने में आता है वह सब दृश्य के अन्तर्गत आ जाता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद में इसी माया को प्रकृति कहकर वर्णित किया गया है। जैसे:—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्याः अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

(श्वे० ४/१०)

माया तो प्रकृति को समझना चाहिये और मायापति उस परमेश्वर को समझना चाहिये उस परब्रह्म की शक्तिरूपा प्रकृति के ही अङ्गभूत कार्य-कारण समुदाय से यह सारा जगत व्याप्त हो रहा है।

जीवात्मा की बद्धावस्था और मुक्तावस्था

जैसा कि—पहले बताया जा चुका है कि जीवात्मा का यथार्थ स्वरूप विज्ञानमय है किन्तु उस परमेश्वर की त्रिगुणमयी माया शक्ति से मोहित होकर यह नामवान शरीर एवं इन्द्रिय समुदाय के धर्मों को अपने में आरोपित करके स्वयं को सुखी या दुःखी अनुभव करता है। जीव की यह विवशता ही इसकी बद्धावस्था है। जब वही जीव उस करुणा निधान परमेश्वर की अहैतुकी कृपा से अपनी इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी बना लेता है तो अपने उस शाश्वत नित्य आनन्द के सागर परमेश्वर को पाकर आनन्द में निमग्न हो जाता है।

यही जीवात्मा की मुक्तावस्था है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्रों में यह बात विस्तार पूर्वक समझायी गई है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो
अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
(श्वे० ४/७)

शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर हृदय रूपी घोंसले में साथ रहने वाला जीवात्मा गहरी आसक्ति में डूबा हुआ है। अतः वह असमर्थ होने के कारण दीनता पूर्वक मोहित हुआ शोक करता रहता है। जब भगवान की दया से योगियों द्वारा सेवित अपने से भिन्न परमेश्वर को और उसकी आश्चर्यमयी महिमा को प्रत्यक्ष देख लेता है तब वह सर्वथा शोक रहित हो जाता है।

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
(श्वे० १/८)

विनाशशील प्रकृति और अविनाशी जीवात्मा इन दोनों के संयोग से बने हुए व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप इस विश्व को परमेश्वर ही धारण और पोषण करते हैं तथा जीवात्मा सांसारिक विषयों का भोक्ता बना रहने के कारण प्रकृति के अधीन असमर्थ होकर उसमें बंध जाता है और यही जीवात्मा परमेश्वर को जान लेने के बाद सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

कठोपनिषद् में जीव के बन्धन का कारण इस मन्त्र में स्पष्ट कर दिया गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठो० उ० १/२/१)

परमेश्वर ने आँख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा आदि सभी इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर देखने वाले बनाये हैं। इसलिये मनुष्य इन इन्द्रियों द्वारा बाहर की वस्तुओं को ही देखता है अपने भीतर स्थित परमात्मा की ओर नहीं देखता। कोई विरला ही भाग्यवान पुरुष ऐसा होता है जो कि अमर पद को पाने की इच्छा से अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों को बाहर के विषयों से हटाकर तथा उन्हें अन्तर्मुखी बनाकर उस अन्तर्यामी परमात्मा को देखता है।

परमात्मा का स्वरूप

पूर्व प्रकरण में जीवात्मा एवं प्रकृति का स्वरूप बतलाते हुये यह कहा गया था कि जीवात्मा और प्रकृति ये दो परमेश्वर की प्रकृतियां हैं और परमेश्वर इन दोनों का स्वामी

है। जब यहाँ यह विचार करना है कि वे परमात्मा कैसे हैं, उन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उन्हें जान लेने व प्राप्त कर लेने का क्या फल है? इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् निर्णयात्मक उत्तर देता है—

अंगुष्ठमात्र पुरुषो
ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य
स उ श्वः एतद्वै तत्॥
(कठो० २/१/१३)

यमराज नचिकेता को उसके परमात्मतत्व सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुये बताते हैं—

अंगुष्ठमात्र परिमाण वाले वे परम पुरुष परमात्मा धूम रहित निर्मल ज्योति के समान हैं। वे भूत, वर्तमान और भविष्य पर शासन करने वाले हैं। लौकिक ज्योतियों में धूम रूप दोष होता है किन्तु वे धूम रहित, उष्णता रहित सर्वथा विशुद्ध हैं। अन्य ज्योतियाँ घटती बढ़ती रहती हैं और समय आने पर बुझ जाती हैं किन्तु वे परमात्मा जैसे आज हैं वैसे ही कल भी रहेंगे। हे नचिकेता! यही वह परमात्म तत्व है जिसके विषय में तुमने पूछा था।

आचार्य यम से परमेश्वर की विलक्षण महिमा को सुनकर बालक नचिकेता के मन में यह जिज्ञासा हुई कि उस परमानन्द स्वरूप परमेश्वर को मैं किस प्रकार से जानूँ, क्या वह परमात्मा प्रकाशित होते हैं या अनुभव में आते हैं? बालक के मनोभावों को जानकर आचार्य यम पुनः कहते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठो० २/२/१५)

उस प्रकाश स्वरूप परमात्मा के समीप न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और तारागण प्रकाशित होते हैं और न वे बिजलियाँ ही प्रकाश देती हैं, फिर यह लौकिक अग्नि तो कैसे प्रकाशित हो सकती है। क्योंकि उस परमात्मा के प्रकाश से ही सूर्य-चन्द्र-तारकादि सभी प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश लुप्त हो जाता है उसी प्रकार सूर्य का प्रकाश भी उस अनन्त प्रकाश पुंज के सामने अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत उस परमेश्वर के प्रकाश के एक अंश से प्रकाशित हो रहा है।

भयादस्याग्निस्तपति
भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च
मृत्युर्धावति पंचमः॥
(कठो० २/३/३)

इसी परब्रह्म के भय से अग्नि तपता है,

इसी के भय से सूर्य तपता है और इसी के भय से इन्द्र, वायु और मृत्यु देवता ये सब दौड़ दौड़कर अत्यन्त सावधानी पूर्वक अपना-अपना काम कर रहे हैं।

वे सर्वशक्तिमान बड़े रहस्यमय हैं, वे अनेक विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। सर्व व्यापी होते हुये भी वे एकदेशीय बने रहते हैं और इन्द्रियों से रहित होते हुये भी समस्त इन्द्रियों के विषयों को जानते हैं। जैसे:—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषम् महान्तम्॥
(श्वेता० ३/१९)

वह परमात्मा हाथ-पैरों से रहित होते हुये भी सब जगह की वस्तुओं को ग्रहण कर लेते हैं और वेगपूर्वक सब जगह जा सकते हैं, आँखों से रहित होते हुए भी वे सब कुछ देखते हैं तथा कानों से रहित होते हुए भी सब कुछ सुन लेते हैं। संसार में जो कुछ जानने में आने वाली वस्तुएँ हैं उन सबको वे जानते हैं परन्तु उनको जानने वाला कोई भी नहीं है। अतः ज्ञानीजन उस परब्रह्म को आदि पुरुष और महान पुरुष कहते हैं।

कठोपनिषद् में बताया गया है कि—वे परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म हैं और महान से हैं। अर्थात् संसार का सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ भी उनकी तुलना में स्थूल ही बना रहता है और महानता में वे इतने महान् हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड में छाये हुए हैं। वे जीवात्मा के अत्यन्त निकट होने पर भी बहुत दूर हैं। अर्थात् कभी दृष्टिगोचर नहीं होते। इस प्रकार परमात्मा आश्चर्यमय हैं ही, किन्तु उन्हें जनाने वाला और जानने वाला ये दोनों भी आश्चर्यमय हैं। क्योंकि पहले तो उस तत्व के यथार्थवेत्ता अनुभवी पुरुष ही दुर्लभ हैं और फिर आत्मदर्शी महापुरुषों से उपदेश पाकर भी उस मनन, निदिध्यासन करते हुए आत्म-साक्षात्कार कर लेने वाले व्यक्ति भी विरले होते हैं। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह पहले तो अनुभवी महापुरुष से इस विषय को श्रद्धापूर्वक सुने, फिर उस पर मनन करे और फिर योगपरायण होकर आत्मतत्व को जानने का प्रयत्न करे, क्योंकि—योग परायण व्यक्ति ही उस तत्व को पाने का अधिकारी है।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
(कठो० १/२/१२)

जो सर्वव्यापी परमात्मा योगमाया के पर्दे में छिपा हुआ है, जो सबके हृदयरूप गुफा में स्थित होने के कारण संसार रूप गहन वन में रहने वाला है तथा पुराण पुरुष है, ऐसे उस कठिनता से देखे जाने योग्य परमात्मदेव

को निरन्तर ध्यानाभ्यास में लगा रहने वाला साधक ही प्राप्त कर सकता है तथा उसे पाकर वह सदा के लिए दुःख-शोक से मुक्त हो जाता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
(कठो० २/३/९, श्वे० ४/२०)

इन परमेश्वर का दिव्य स्वरूप प्रत्यक्ष विषय के रूप में अपने सामने नहीं ठहरता और उस दिव्य रूप को कोई भी मनुष्य अपने प्राकृत चर्म-चक्षुओं द्वारा नहीं देख पाता। मन से बार-बार चिन्तन करके ध्यान में लाया हुआ वह परमात्मा निर्मल हृदय तथा विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ही दृष्टिगोचर होता है। जो साधक इन परमेश्वर को जान लेते हैं वे परमानन्द स्वरूप बन जाते हैं।

साधन परायण संयमी व्यक्ति ही उन परमात्मदेव को जान सकता है, किन्तु जो व्यक्ति विषय लोलुप होकर इन्द्रियों का दास बना रहता है और मनमाना आचरण करता है तथा जिसका अन्तःकरण पवित्र नहीं है वह परमेश्वर को न पाकर जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है। जैसे:—

यस्त्वविज्ञानवान् भव-
त्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति
संसारं चाधिगच्छति ।
(कठो० १/३/७)

यस्तु विज्ञानवान् भवति
समनस्कः सदाशुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति
यस्माद् भूयो न जायते ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु
मनः प्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति
तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

जो मनुष्य सदा विवेकहीन बुद्धि वाला असंयतचित्त और अपवित्र बना रहता है वह उस परम पद को नहीं पा सकता प्रत्युत बार-बार जन्म-मृत्यु रूप संसार चक्र में ही भटकता रहता है। इसके विपरीत जो साधक विवेकशील बुद्धि से युक्त, संयमी और पवित्र रहता है वह परमेश्वर के उस परम धाम को प्राप्त कर लेता है जहाँ से फिर लौटना नहीं पड़ता। जो साधक विवेकशील बुद्धि को अपना सारथी बनाये रखता है और मन रूपी लगाम को सावधानी से न ढीले रहता है वह संसार के दोनों मार्गों को पार करता हुआ परमब्रह्म परमेश्वर के उस पद को पा जाता है।

मुण्डकोपनिषद् का भी यही पवित्र वचन है, कि—शरीर के भीतर हृदय में अन्तर्यामी रूप से विराजमान परम विशुद्ध प्रकाशमय ज्ञान स्वरूप परमात्मा को सब प्रकार दोषों से रहित हुये योग परायण व्यक्ति ही अपनी तपश्चर्या, सत्य भाषण तथा ब्रह्मचर्य के पालन से प्राप्त हुए यथार्थ ज्ञान द्वारा ही देख पाते हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
(मुण्डक ३/१/५)

क्रमशः

यौगिक प्रश्नोत्तरी

श्रावण का महीना था। योगाचार्य श्री तपोनिधि जी के आश्रम में यह महायज्ञ चल रहा था जिसमें अनेकों वेदपाठी ब्राह्मण और तपस्वी महात्मा भाग ले रहे थे। आश्रम के सभी बटुक अपनी संयमित दिनचर्या एवं सेवा-भाव से इस यज्ञ को सफल बनाने की चेष्टा कर रहे थे। दूर-दूर से आये हुए सैकड़ों योग-प्रेमी सद्गृहस्थ तथा विरक्त ब्रह्मचारी भी योगाचार्य जी के निर्देशन में तपश्चर्या करते हुए अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न कर रहे थे।

प्रतिदिन की भांति आज भी योगाचार्य गीता का पवित्र उपदेश सुनाकर अपनी कुटिया में जाकर समाधि में लीन हो गये थे। आश्रम के कुछ ब्रह्मचारी अपनी-अपनी कुटियों में बैठकर ध्यानाभ्यास कर रहे थे तथा कुछ आश्रम की व्यवस्था में लगे हुए थे। उनमें से कुछ व्यक्ति बाहर से आये हुए योग-साधकों को योगक्रियायें सिखा रहे थे। यज्ञशाला में वेदपाठी ब्राह्मणों द्वारा की जा रही वेदमन्त्रों की दिव्य स्वर-ध्वनि आश्रम के पवित्र वातावरण को और भी पवित्र बना रही थी। सभी योगानुरागी सद्गृहस्थ तथा विरक्त महात्मा नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर तथा यौगिक व्यायाम करके यज्ञशाला में एकत्रित होते जा रहे थे और वहीं बैठकर वेदमन्त्रों की पवित्र ध्वनि में मन को एकाग्र करते हुए ध्यानाभ्यास कर रहे थे। वेदपाठ का यह कार्यक्रम तीसरे पहर के आरम्भ तक चलता रहा।

तब तक कई नये दर्शनार्थी भी आश्रम में पहुंच गये थे। वे सत्सङ्ग भवन में बैठकर योगिराज जी के आने की प्रतीक्षा करने लगे। उनके कान वेदमन्त्रों के श्रवण में लगे थे और दृष्टि योगिराज जी की कुटिया की ओर ही टिकी हुई थी। इतनेमें ही "हर हर महादेव" की ध्वनि के साथ ही वेदपाठ का समापन हुआ और शङ्कर भगवान की जय, राम भगवान की जय, योगिराज महाराज की जय—आदि जयघोषों से अन्तरिक्ष गूँज उठा। सभी लोग सत्सङ्ग भवन से यज्ञशाला की ओर दौड़े-दौड़े गये और आरती में सम्मिलित हो गये। आरती के पश्चात् सात्विक लोग अल्पाहार के लिए भोजनालय में चले गये। सभी लोगों ने भी लम्बी पंक्तियों में बैठकर एकसाथ भोजन-प्रसाद ग्रहण किया।

भोजनोपरान्त वे पुनः सत्सङ्ग भवन में एकत्रित होकर प्रभुनाम-संकीर्तन में मस्त हो

गये। उनका अन्तिम सङ्कीर्तन था—

सब जग छोड़ के मेरे प्रभुजी
तेरी शरण में आया हूँ।
दुनिया का मैं परम पातकी
जग बैरी कहलाया हूँ॥
ना जानूँ मैं ध्यान-धारणा
ना जानूँ भक्ती तेरी।
आया कृपापात्र बनने को
देखूँ वो शक्ती तेरी॥
तोड़ सभी जग के बन्धन को
तेरी शरण में आया हूँ।
सब जग छोड़ के मेरे प्रभुजी
तेरी शरण में आया हूँ॥
जिसने द्वार पै आकर तेरे
अपना हाथ पसारा है।
उसकी डूबती नैया का
प्रभु तू ही बना किनारा है॥
सुना है लाखों पतितों को
प्रभु तूने जग में तारा है।
मैं फिर क्यों रह जाऊँ
अकेला मिला जो तेरा सहारा है॥
संस्कारों की बाँध पोटली
शरण तुम्हारे आया हूँ।
सब जग छोड़ के मेरे प्रभु
तेरी शरण में आया हूँ।
नहीं चाह धन धान्य रत्न की
नहीं इच्छा यश गौरव की।
केवल गुरुपद भक्ति मिले
और शरण मिले इन चरणन की॥
तोड़ सभी जग के बन्धन को
तेरी शरण में आया हूँ।
सब जग छोड़ के मेरे प्रभुजी
तेरी शरण में आया हूँ॥

इस सङ्कीर्तन के समाप्त होने के साथ ही योगाचार्य जी की कुटिया के कपाट खुले। वे बाहर निकलकर अपनी मस्तानी चाल से चलते हुए सत्सङ्ग-भवन की ओर बढ़े। वहाँ पहुँचकर अभय मुद्रा में मन्द मुस्कान के साथ उपस्थित जन-समूह पर दृष्टिपात किया और फिर गम्भीर मुद्रा में अपने आसन पर विराजमान हो गये। सभी सत्सङ्गियों ने खड़े होकर एवं सिर झुकाकर उन्हें अभिवादन किया और उनका संकेत पाकर सभी यथा स्थान बैठ गये।

कुछ क्षण मौन रहने के उपरान्त योगाचार्य जी ने एक बार फिर चारों ओर दृष्टिपात किया और फिर अमृत बरसाने वाली अत्यन्त मधुर एवं गम्भीर वाणी में बोले—

पवित्रात्माओ! तुम सब परम भाग्यशाली हो। अपने भाग्य को सराहना चाहिए जो कि तुम्हें योगमार्ग मिला हुआ है। दुनिया में और सब कुछ मिल जाया करता है, किन्तु यह योगमार्ग बड़ी कठिनता से मिला करता है। अब तुम्हें अपनी करनी में कोई कसर नहीं रखनी चाहिए। जैसा तुम्हें उपदेश दिया गया है उस प्रकार से खूब अभ्यास करते रहो

और समाधि की ओर बढ़ने का प्रयास करो। योग जैसी अमर निधि पाकर तुम निहाल हो जाओगे, कृतार्थ हो जाओगे। अतः ध्यान की साधना करो। सब कुछ पा जाओगे देखो। कालचक्र-सुदर्शनचक्र को एक साथ घुमाने वाले, समस्त ब्रह्माण्डों के स्वामी और प्राणी-मात्र के आत्मा श्रीकृष्ण ने कितने ऊँचे शब्दों में योग की महिमा को बतलाया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद्योगी भवार्जुन॥

अर्थात् तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है शास्त्रों के पारङ्गत विद्वानों से योगी श्रेष्ठ है और कर्मकाण्डियों से भी योगी का स्थान श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तू योगी बन।

हम प्रतिदिन तुम्हें योग सिद्धांत बताते रहते हैं। तुम उन्हें समझकर उन पर आच-रण करने का प्रयत्न करो। अवश्य ही परम कल्याण के भागी बन जाओगे। यह कहकर योगाचार्य जी मौन हो गये।

इतने में ही उपस्थित समुदाय में से एक साधक ने अत्यन्त विनय पूर्वक करबद्ध होकर निवेदन किया—

प्रश्न—महाराज जी! आपने अपने कल के प्रवचन में समाधि प्राप्त के कई उपाय बताये थे और उनमें एक 'वीतराग पुरुषों का ध्यान' भी बताया था। प्रभो! वीतराग पुरुष कौन कहलाते हैं और उनके ध्यान की क्या विधि है? इस बात को पुनः खोलकर समझाने की कृपा कीजिए।

उत्तर—हे पुत्र! सुनो! भगवान पतञ्जलि देव ने योगदर्शन के समाधिपाद में समाधि प्राप्ति के विविध उपायों का वर्णन करते हुए यह सूत्र लिखा है—

वीतराग विषयं वा चित्तम्।

अर्थात् समाहित चित्त जिसने वासनिक अभिलाषा को पूरी तरह त्याग दिया है और जो चित्त अविद्या आदि सभी क्लेशों से रहित हो चुका है, ऐसे चित्त का अवलम्ब लेने से योगी का चित्त समाधि को प्राप्त हो जाता है।

संसार अनेक वीतराग पुरुष हैं। वे सभी महापुरुष जो गुणातिकार को भलीभांति समझकर निस्त्रैगुण्य स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं तथा जिनके लिए गीता में कहा गया है—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा
कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी
समलोष्टाश्म काञ्चनः॥

जिनका अन्तःकरण ज्ञानविज्ञान से पूरी तरह तृप्त है। अर्थात् प्रकृति के सभी के विश्लेषणों पर जिनका पूरा अधिकार हो चुका है, जिनकी इन्द्रियां भलीभांति जीती हुई हैं और जिनके लिए मिट्टी, पत्थर तथा

योगी ने सब चीजें समान हैं। वह महापुरुष युक्तयोगी कहलाता है। इस प्रकार सिद्धकोटि में मिले जाने वाले योगैश्वर्य के धनी सभी महापुरुष वीतराग पुरुष ही कहलाते हैं।

वीतराग पुरुष के ध्यान की यही विधि है कि साधक उनकी आकृति का दृढ़तापूर्वक चिंतन करता रहे, उसी आकृति को ही अपनी धारणा का विषय बनावे। ऐसा करते हुए वह कालान्तर में समाधि को प्राप्त हो जायगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। गीता में जगदात्मा श्रीकृष्णचन्द्र ने इस सिद्धान्त का पूरा-पूरा अनुमोदन किया है। अर्जुन को योगोपदेश देते हुए वे आदेश देते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व
मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव
अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

हे अर्जुन! तू मुझमें ही अपना मन लगा दे, और अपनी बुद्धि को मेरे अन्दर प्रवेश करा दे। ऐसा कर लेने के उपरान्त तू मुझमें ही प्रवेश कर जायेगा, मुझमें ही रहेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

वीतराग विषयं वा चित्तम्।

का भी यही अर्थ है कि—साधक को वीतराग पुरुषों के मन में अपना मन, उनकी बुद्धि में अपनी बुद्धि और अहंकार में अहंकार को विलीन कर देना चाहिए। ऐसा करने पर वह उन्हीं के मन वाला बन कर स्वयं भी वैसा बन जायगा। उसके सभी गुण धर्म उसमें प्रकट हो जायेंगे।

प्रश्नः—गुरुदेव! आपका यह कथन ठीक है कि किसी वीतराग महापुरुष के या अपने इष्टदेव के मन में मन और बुद्धि में बुद्धि मिला देने से साधक उनके गुण धर्मों एवं शक्तियों से विभूषित हो सकता है, किन्तु उनके मन में अपना मन और उनकी बुद्धि में अपनी बुद्धि मिला देना मुझे असम्भव सा प्रतीत हो रहा है। अतः इस विषय को विस्तार पूर्वक समझाने की कृपा कीजिए।

उत्तरः—हे पुत्र! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर श्रीमद् भागवत पुराण देता है, इससे तुम्हारे सन्देह की निवृत्ति हो जायगी। योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने भागवत में इस सिद्धांत को स्वीकार किया है कि मन में मन और बुद्धि में बुद्धि विलीन हो सकती है जैसे—

विषयान् ध्यायतो चित्तं
विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतो चित्तं
मय्येव प्रविलीयते॥

सांसारिक विषयों का चिन्तन करता हुआ चित्त उन रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों में ही फंसा-फंसा रहता है किन्तु मुझ परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करता हुआ वही चित्त मुझमें ही पूरी तरह से मिल जाता है।

श्रीमद् भागवत् पुराण के ११वें स्कन्ध के २९वें अध्याय में भगवान ने अपने प्रिय भक्त उद्धव जी को यही विषय स्पष्टीकरण के साथ समझाते कहा है:—

हन्त ते कथयिष्यामि
मम धर्मान् सुमङ्गलान् ।
यान्श्रद्धयाचरन्मर्त्यो
मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥
कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि
मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पित मनश्चित्तो
मद्धर्मात्ममनो रतिः ॥

प्रिय उद्धव ! अब मैं तुम्हें अपने उन भागवत् धर्मों का उपदेश करता हूँ जिनका श्रद्धा पूर्वक आचरण करता हुआ मनुष्य मृत्युरूप संसार सागर को अनायास ही पार कर जाता है। मेरे भक्त को चाहिए कि वह सारे कर्म मेरे लिए ही करे और मेरे स्मरण का लगातार अभ्यास करता रहे। ऐसा करने से कुछ ही दिनों में उसके मन और बुद्धि मुझमें समर्पित हो जायेंगे और उसके मन व आत्मा मेरे ही धर्मों में रम जायेंगे।

गीता में भी तो भगवान का यही पवित्र आदेश है कि हे अर्जुन ! तू अपना मन और बुद्धि मुझमें लगा दे। इतना कर लेने पर तू मेरा ही रूप बन जायगा। अगले दो श्लोकों में इसे और भी सरल उपाय बताते हुए कहा गया है:—

अथ चित्तं समाधातुं
न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यास योगेन ततो
मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि
मत्कर्म परमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि
कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥

हे अर्जुन ! यदि तू अपना मन और चित्त मुझ परमेश्वर में लगाने में असमर्थ है तो अभ्यासरूप योग के द्वारा अर्थात् ध्यानाभ्यास के द्वारा मुझे प्राप्त करने का प्रयत्न कर। यदि तू मन्त्र जप एवं ध्यानाभ्यासादि करने में भी असमर्थ है तो मुझ परमेश्वर को ही परम आश्रय समझकर निष्काम भाव से यज्ञ, दान तथा तप आदि शास्त्र विहित कर्मों को मेरी प्रसन्नता के लिए करता जा, मेरे निमित्त करता हुआ भी तू मेरी प्राप्ति रूप सिद्धि को ही प्राप्त होगा।

गीता के ९वें अध्याय में भी यही कहा गया है—

यत्करोषि यदश्नासि
यद्ददासि जुहोषि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय
तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

शुभाशुभ फलैरेवं
मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोग युक्तात्मा
विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

हे अर्जुन ! तुम जो कुछ भी खाते हो वह मेरे लिए खाओ, जो यज्ञादि कर्म करते हो तथा जो दान करते हो वह मेरी प्रसन्नता के लिए ही करो। जो कुछ तपश्चर्या आदि करते हो वह मेरे लिए ही करो। इस प्रकार भगवदर्थ कर्म करने से तू शुभाशुभ कर्म बंधन से मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त हुआ तू मुझ परमेश्वर को ही प्राप्त हो जायगा।

जो साधक अपने सभी कर्म अपने इष्टदेव को अर्पित कर देता है तो वे कर्म उसके लिए शुभाशुभ फल के दाता नहीं बनते प्रत्युत उसे जन्म-मरण के चक्र से छुड़ा देते हैं।

इसप्रकार हे पुत्र ! मन में मन, बुद्धि में बुद्धि, चित्त में चित्त और अहंकार में अहंकार का विलय हो सकता है। क्योंकि जहां पर जिन वस्तुओं का साधर्म्य होता है वे दोनों वस्तुएं मिल सकती हैं जबकि विधर्मी वस्तुएं नहीं मिला करतीं। जल में जल मिल सकता है, दूध में दूध मिल सकता है, दूध में जल भी मिल सकता है। क्योंकि जल उसमें पहले से विद्यमान है, किन्तु जल में रेत नहीं मिल सकता।

साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह साधन-परायण रहे। अपनी नियमानुवर्तिता का दृढ़ता से पालन करे। अपने साधन एवं साध्य में पूर्ण श्रद्धा एवं उत्साह रखे, साधना में उकतावे नहीं। योग की शुरूआत मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है। मन में एकाग्रता का उदय तभी होना सम्भव है, जब उसमें सतोगुण की वृद्धि हो जायगी। इसके आवश्यकता है कि साधक योगाज्ञों का दृढ़ता-पूर्वक पालन करे। शीघ्रातिशीघ्र मन की एकाग्रता चाहने वाले साधकों के लिए वीत-राग पुरुषों का ध्यान करना विशेष लाभ-दायक है।

अपने इस उपदेश के साथ ही योगाचार्य जी ने आज के सत्संग को विश्राम दिया।

❀ कर्म की प्रतिक्रिया ❀

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं
श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि
परेषां न समाचरेत्॥

भगवान् व्यास कहते हैं-'धर्म का सर्वस्व सुनो और इसे सुनकर चित्त में बैठा लो कि जो बात व्यवहार में दूसरों से तुम अपने प्रति नहीं चाहते, वह तुम दूसरों के साथमत करो।'

ऐसा नहीं है कि आप कुछ करेंगे, तभी उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा। आप मन में जो सोचते हैं, उसका प्रभाव भी दूसरों पर पड़ता है। आप किसी को बुरा मानते हैं, किसी की बुराई सोचते हैं तो उसके मन में आपके प्रति उपेक्षा, घृणा या द्वेष उत्पन्न होता है। आपके मन का भाव उसके यहां से प्रति-क्रान्त होकर आपकी ओर लौटता है।

गायत्री मन्त्र का शुद्ध और सस्वर उच्चारण

श्री प. वीरसेन, वेदश्रमी, वेदविज्ञानाचार्य

१- गायत्री की साधना ज्ञानपूर्वक करें—

गुरु मन्त्र गायत्री के बारे में अनेक विधियाँ प्रचलित है। प्रत्येक उसी विधि को ठीक मान रहा है, जो उसे कहीं से प्राप्त हुई है अथवा भावनात्मक या श्रद्धात्मक साधना के आधार पर अनुष्ठित हुई है। अतः ग्राह्य विधि क्या है और त्याज्य क्या है, इसका ज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा वास्तविक लाभ की प्राप्ति नहीं होगी।

२- गायत्री का शुद्ध एवं स्वर सहित उच्चारण करें—

सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि गायत्री मन्त्र के अर्थ को जानना, गायत्री मन्त्र के वर्णों का शुद्ध उच्चारण, शब्दों का शुद्ध उच्चारण और मन्त्र का उदात्तादि स्वर ज्ञान पूर्वक किसी एक वेद के अनुसार शिक्षा की रीति से उच्चारण का अभ्यास करना चाहिये।

३- स्वर सहित मन्त्रोच्चारण से लाभ—

गायत्री का सस्वर मन्त्रोच्चारण करने से मन्त्र के आधार पर अपने शरीर में अपने प्राणों में उसी प्रकार से कम्पन एवं आघात पड़ेगा। मन्त्र के उदात्तादि स्वर परमात्म प्रदत्त स्वर है। अतः परमात्म प्रदत्त दैवी स्वर से हमारा स्वर साधर्म्य तथा स्वरैक्यता होगी और बार-बार उसी प्रकार के उच्चारण से शरीर तथा उसके बाह्य क्षेत्र पर स्वर कम्पात्मक वृत्त का निर्माण स्वाभाविक रूप से होगा। उसके साथ मन्त्र अर्थ चिन्तन द्वारा व्यष्टि और समष्टि में गायत्री के भावों का अव्यक्त रूप में संचरण वृद्धि को प्राप्त होगा तथा उसमें तेजस्विता उत्पन्न होने पर अपनों में भी उन भावों का एवं क्रियाओं का उद्बोधन या जागरण स्वतः ही होगा। अतः गायत्री मन्त्र के सस्वर पाठ का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। बिना सस्वर मन्त्रोच्चारण किये गायत्री मन्त्र के दैवी प्राणों की प्राप्ति सम्भव नहीं। स्वर ज्ञान विहीन मन्त्र के उच्चारण से विकृत स्वरों से विकृत प्राणों की उत्पत्ति होती है।

४- गायत्री मन्त्र के प्रारम्भ में ही ओम् बोलें—

गुरु मन्त्र गायत्री के प्रारम्भ में ही ओ३म् बोलना चाहिये। मन्त्र के मध्य या अन्त में नहीं। मन्त्र के आदि में ही ओ३म् का प्रयोग होता है। यही प्राचीन आर्ष प्रणाली है। इसी के अनुसार वेदारम्भ में गुरु शिष्य को सर्वप्रथम गुरु मन्त्र का उपदेश देता है और अभ्यास कराता है। उसमें प्रारम्भ में ही ओ३म् है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी।

प्रणवं वाक् प्रयुञ्जीत
व्याहृतीस्तदनन्तरम् ।
सावित्रीं चानुपूर्वेण
ततोवेदान् समारभेत् ॥

अर्थात् सर्वप्रथम ओ३म् का उच्चारण करें फिर व्याहृतियों को बोले तत्पश्चात् सावित्री मन्त्र को मन्त्रक्रमानुसार बोल कर वेदाभ्यास करें। अर्थात् गायत्री मन्त्र के सर्वप्रथम में एक ही बार ओ३म् का उच्चारण होता है। सन्ध्यादि कार्य में गायत्री का जप होता है। वहां पर भी इसी प्रकार प्रारम्भ में ओ३म् की व्यवस्था है। मन्त्र के मध्य या अन्त में नहीं। यही प्राचीन आर्ष प्रणाली मंत्रादि काल से ही प्रचलित है, परन्तु कतिपय लोगों ने इसके विपरीत जो व्यवहार प्रचलित किया, वह सर्वथा अशुद्ध ही है, चाहे वह किसी ऋषि के नाम से हो।

५- गायत्री मन्त्र के मध्य में ओ३म् का प्रयोग अशुद्ध है-

आर्ष शास्त्र ज्ञान विहीन लोगों में तथा विविध तांत्रिक लोगों ने अपने वैशिष्ट्य प्रदर्शन के लिये यह प्रचलित किया कि गायत्री मन्त्र में एक बार ओ३म् लगाना अशुद्ध है, पांच बार ओ३म् लगाना चाहिये, यथा:-

ओ३म् + भूर्भुवः स्व। ओ३म् तत्सवितुर्वरेण्यं ओ३म् भर्गोदेवस्य धीमहि,

ओ३म् धियो यो नः प्रचोदयात् ओ३म्।

ऐसा प्रयोग नितांत भ्रमपूर्ण और पूर्णरूप से अशुद्ध है क्योंकि ओ३म् का प्रयोग कर्मांगत्वों मन्त्रः प्रणवः स्मृतः—ऐसा कात्यायन ने कहा है। अतः कर्म के प्रारम्भ के मन्त्र के आदि में ही ओ३म् का प्रयोग करना चाहिये। जिस मन्त्र में क्रिया पद न हो वह अपूर्ण एवं क्रियाहीन तथा निष्प्रयोजन हो जाता है। जिस मंत्र में क्रियापद है, उसके यदि खण्ड करेंगे तो एक भाग क्रियाहीन निरर्थक हो जायगा। अतः मन्त्र को सम्पूर्ण रूप से क्रियामय रखना ही चाहिये। सम्पूर्ण मन्त्र की पंक्ति का भी यदि विभाजन करेंगे और उसमें ओ३म् का प्रयोग कर देंगे तो मन्त्र स्वरों की अर्थात् उदात्तानुदात्तादि की जो सन्धि है, वह विच्छिन्न हो जाएगी और उससे मन्त्र का स्वर विकृत हो जाएगा। मन्त्र के स्वर रूपी प्राण के खण्डित करने से विश्व के प्राण में विकार सम्भव है।

६- अशुद्ध प्रचलनों का अन्त नहीं—

भूर्भुवः स्वः इतने पद में क्रिया के न होने से वाक्य अपूर्ण है, अतः इसका तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, इन पदों के साथ बोलना ही चाहिये। ओ३म् तत्सवितुः ओ३म् भर्गोदेवस्यधीमहि, ओ३म्-नहीं बोलना चाहिए। केवल मन्त्र के प्रारम्भ में ही ओ३म् भूर्भुवः स्वः यहीं एक बार ओ३म् बोलना चाहिये। यदि मन्त्र मध्य में स्वेच्छया अथवा भ्रमवश ओ३म् लगाना ठीक समझेंगे तो ओ३म् भूः ओ३म् भुवः ओ३म् स्वः ओ३म् तत्, ओ३म्

सवितुः ओ३म् वरेण्यं ओ३म् भर्गः ओ३म् देवस्य ओ३म् धीमहि ऐसा तो और भी श्रेष्ठ होगा। फिर इससे भी बढ़कर अनेक प्रकार के प्रयोग हैं, वे और भी श्रेष्ठतर माने जायेंगे। हमारे पास ९२ बार ओ३म् के साथ गायत्री मन्त्र है, वह तो श्रेष्ठतम माना जायेगा। ऐसे अनेक प्रकार के प्रयोग अज्ञानीजनों ने लोगों को भ्रम में डालने के लिये प्रचलित किये। अतः ऐसे भ्रमों में नहीं पड़ना चाहिये।

७- मन्त्र मध्य में ओ३म् के प्रयोग से अर्थ की अपूर्णता—

तत्सवितुर्वरेण्यं—इतने पद का अर्थ हुआ 'सविता देव के उस वरणीय' इसमें कोई क्रिया पद नहीं है, अतः इस अपूर्ण वाक्य से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। क्रिया पद तो 'धीमहि' है जो आगामी चरण में है। अतः पूर्ण वाक्य बनाने में यह खण्डित तथा अपूर्ण रह जाने से अनर्थक ही हो जाता है। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि—यहाँ आकर वाक्य का एक भाग पूर्ण होता है, परन्तु मन्त्र का भी प्रयोजन स्वरूप अप्रकट ही रहने से अपूर्ण है। अतः सम्पूर्ण रूप में अखण्ड रूप से ही गायत्री मन्त्र बिना किसी व्यवधान के बोलना चाहिये। बार-बार ओ३म् उसके मध्य या अन्त में बोलना ठीक नहीं है। इसी प्रकार गायत्री छन्द की दृष्टि से भी मध्य में अनेक बार ओ३म् लगाने से वह मन्त्र गायत्री छन्द में नहीं रहेगा। अतः अनेक हेतुओं से ऐसे प्रयोग त्याज्य ही है। इसी प्रकार 'भर्गोदेवस्य धीमहि और धियोयोनः प्रचोदयात्' पद भी स्वतन्त्र भावार्थता से रहित ही है। अतः इन पदों के प्रारम्भ में ओ३म् का प्रयोग भी अशुद्ध ही है।

८- गायत्री और सविता का सम्बन्ध छन्द और देवता से है—

गायत्री और सवितृ मन्त्र नाम छन्द और देवता इन दृष्टियों से है। सूर्य से आने वाली और पृथ्वी से प्रत्यावर्तित होने वाली किरणों से इनका सम्बन्ध नहीं है। गायत्री छन्द २४ अक्षर का होता है। अतः यह मन्त्र २४ अक्षरों से बना है। अतः गायत्री मन्त्र है। इस मन्त्र का देवता सविता है, अतः यह सावित्र मन्त्र है। सविता का अर्थ सबकी उत्पत्ति करने वाला है। सूर्य का नाम भी सविता है। सूर्य से जगत् में उत्पत्ति होती है। परन्तु सूर्य भी उत्पन्न हुआ और उसका भी उत्पादक परमात्मा है अतः परमात्मा ही सर्वप्रथम सविता है। इस दृष्टि से इस मन्त्र का देवता सूर्य नहीं परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिये। वह सदा विद्यमान रहता है। अतः रात्रि में भी गायत्री जाप निषिद्ध नहीं। इस भौतिक दृष्ट सूर्य से ही मन्त्र का सम्बन्ध सीमित नहीं मानना चाहिए। जिस परमात्मा परब्रह्म के लिए कोटि सूर्य समप्रभ कहा गया है, वही वास्तव में सविता है। अतः इस दृष्ट सूर्य को

किरणों की सावित्री संज्ञा और पृथ्वी से प्रत्यावर्तित किरणों की गायत्री संज्ञा बताना शाब्दिक विनोद मात्र है। अवास्तविक है। प्रत्यावर्तित किरणों में गायत्री छन्द का कोई भी लक्षण नहीं है।

९- गायत्री प्राणदाता है, मृत्यु नहीं

गायत्री में मृत्यु देने की शक्ति है, यह प्रतिपादन भी अज्ञान पूर्ण ही है। गय प्राण को कहते हैं और त्र का अर्थ त्राण, रक्षा करना। जो प्राणों की रक्षा करे वह गायत्री है। गयान् त्रायते इति गायत्री यह व्युत्पत्ति गायत्री की की गई है। अर्थात् गायत्री मन्त्र के उच्चारण से जाप से या गान करने से प्राणों की रक्षा होती है। स य कृत्स्नां गायत्रीं मन्वाह स कृत्स्नं प्राणं लभते—ऐसा शतपथ में कहा है। अर्थात् जो सम्पूर्ण गायत्री को बोलता है, वह सम्पूर्ण प्राण को प्राप्त करता है। अतः गायत्री में मृत्यु देने की शक्ति है, यह सब अज्ञान की पराकाष्ठा है। ये सब अवैदिक मान्यतायें हैं। अतः पूर्ण रूप से अमान्य हैं। भ्रम ही उत्पन्न करने वाली हैं।

१०- इदं गायत्र्यै इदंनमम—नहीं बोलें

कुछ अज्ञानी जनों ने गायत्री मन्त्र से यज्ञ करते समय स्वाहा के पश्चात् इदं गायत्र्यै इदं न मम का प्रचार किया। उन्हें यह भी मालूम नहीं कि जिस मन्त्र से जिस देवता के लिए आहुति दी जाती है उसी देवता के लिए यह आहुति मेरे लिए नहीं, इस भाव से इदं न मम का उच्चारण किया जाता है। सुप्रसिद्ध गुरु मन्त्र गायत्री का देवता सविता है। अतः इदं सवित्रे इदं न मम बोलना चाहिए। गायत्री तो इस मन्त्र का छन्द है देवता नहीं है। अतः इदं गायत्र्यै इदं न मम बोलना वैदिक कर्मकाण्ड परिपाटी से विपरीत है। गायत्री मन्त्र का फल धियोयोनः प्रचोदयात् है परन्तु जिनको इस मन्त्र के देवता का ही ज्ञान नहीं, शुद्ध मन्त्र का स्वरूप ज्ञात नहीं मन्त्र का स्वर ज्ञात नहीं और जड़ पदार्थ में उसका दर्शन करते हैं, उनको धियो योनः प्रचोदयात् का फल कैसे प्राप्त होगा। उनकी बुद्धि भी जड़ रहेगी।

११- क्या गायत्री को शाप लगा है

गायत्री मन्त्र के लिये यह कहना कि उसे शाप लगा है। उसका शापोद्धार करना, उसका आवाहन और विसर्जन करना चाहिये। गायत्री मंत्र की रचना विश्वामित्र ने की ये सब विचारधारायें पूर्ण मिथ्या हैं। परमात्मा एवं उसकी वाणी को शाप कौन दे सकता है। क्या परमात्मा से भी बढ़कर कोई अन्य शक्ति वाला है? ऐसे भ्रमजालों में नहीं फँसना चाहिये और अज्ञानीजनों द्वारा प्रचारित बातों को नहीं मानना चाहिए।

१२- वरेण्यं को वरेणियम् नहीं बोलें

कुछ लोग गायत्री मंत्र के वरेण्यं पद को वरेणियम् बोलते हैं। यह बोलना अशुद्ध है।

दीर्घायु पाने के सरल साधन

● डा. श्रीमती राजकुमारी मिश्रा

प्राचीनकाल से ही वैदिक आर्यों का जीवन आदर्श रहा, 'जीवेम शरदः शतम्'। अर्थात् हम सौ वर्षों तक जीवित रहें। केवल जीवित रहना ही अभीष्ट नहीं बल्कि सुन्दर स्वास्थ्य, व मानसिक प्रसन्नता, बौद्धिक प्रखरता व स्वावलम्बी जीवन, हर तरह से सुखी व सन्तुष्ट जीवन जीना ही वैदिक आर्यों की हार्दिक अभिलाषा थी। तभी वे कहते हैं—

जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम् प्रब्रवाम शरदः शतम्।

अर्थात् हम सौ वर्षों तक जीयें, सभी इन्द्रियां भी सौ वर्षों तक कार्य करती रहें। हम सौ वर्षों तक सुनें, बोलें। किसी भी प्रकार से हम दीन जीवन यापन न करें। इस लक्ष्य प्राप्ति हेतु वे प्रयत्नशील भी थे, तथा अपने शरीर, मन व बुद्धि पर अनिष्ट परिणाम डालने वाले तत्वों से बचते थे। वे अनेक प्रकार के नियम व आचरण करते थे, जिनसे उनका शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य उन्नत हो, बुद्धि प्रखर हो तथा आत्मा प्रसन्न हो। समस्त

(पिछले पृष्ठ का शेष)

अशुद्ध बोलना दोष ही है। यदि वरेणियम् ऐसा बोलना शुद्ध मानेंगे तो गायत्री में वरेण्यं पद अशुद्ध है, ऐसा मानना पड़ेगा। यह अशुद्धि परमात्मा ने की यह भी मानना पड़ेगा क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं तथा परमात्मा के द्वारा प्रकट हुए हैं। परमात्मा ने गलत प्रयोग किया और मनुष्य ने सुधारा तो फिर गायत्री मंत्र में धियो योनः प्रचोदयात् कहना भी अनुचित है। अपने से हीन बुद्धि वाले परमात्मा से बुद्धि की कामना व्यर्थ है। गायत्री मंत्र ऋग्वेद में, यजुर्वेद में तथा सामवेद में एक समान ही है। किसी वेद में भी वरेणियम् पाठ नहीं है। यदि किसी वेद में वरेणियम् पाठ होता तो भी यह पक्ष मान लिया जाता कि यह वरेणियम् पाठ भी मान्य है। ऐसा नहीं है अतः वरेणियम् बोलना अशुद्ध है एवं त्याज्य ही है। वेदारम्भ संस्कार में गुरु जब शिष्य को गायत्री मंत्र का तीन बार में उपदेश करता है तो वहां पर गुरु वरेण्यं पद बुलवाता है इसी संस्कार में जब गायत्री मन्त्र से आहुति देते हैं तो वहां पर भी वरेण्यं ही पद है। जब संन्यास संस्कार में संन्यास लेने वाले से गायत्री बुलवाई जाती है तो वहां पर भी वरेण्यं पद ही बुलवाना लिखा है न कि वरेणियम्। अतः जब गायत्री से जप, होम आदि करना हो तो वरेण्यं इसी प्रकार बोलना चाहिये।

शारीरिक व्याधियों का कारण मानसिक असन्तुलन ही है, यह बात विज्ञान ने भी स्वीकारी है तथा प्राचीन आर्यों ने भी। मन की प्रसन्नता व सात्विक आचार-विचार पर उन्होंने सदा ही बल दिया है। अहिंसा, सत्य का पालन, मधुर वाणी, सन्ध्या-वन्दन, जप, अग्निहोत्र का पालन जहाँ एक ओर मन की पवित्रता प्रदान कर मनोबल बढ़ाते हैं, वहीं दूसरी ओर, भोजन, शयन, स्नान, आदि की सतर्कता शारीरिक स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य है। प्राचीन ऋषि इन दोनों ही दिशाओं में सतर्क थे। प्रस्तुत लेखमें ऐसी ही कुछ मान्यताओं का दिग्दर्शन कराने का प्रयास है, जो दीर्घायु कारक मानी जाती थीं। ये मान्यतायें वैज्ञानिक दृष्टि से भी आयुष्यकारक मानी गई हैं।

सदाचार व धर्म के पालन से दीर्घायु

मन की शान्ति हेतु व आनुषंगिक फलरूप से प्राप्त उत्तम शारीरिक स्वास्थ्य के लिये सदाचार का पालन मुख्य साधन कहा गया है। भीष्म पितामह शरशय्या पर पड़े हुए ही, युधिष्ठिर को धर्मविषयक उपदेश के सन्दर्भ में कहते हैं—

आचाराल्लभते ह्यायुः (अनु. १०४.६-११)

अर्थात् सदाचार से ही मनुष्य को दीर्घायु मिलती है। अतः यदि कोई पुरुष अपना कल्याण चाहता हो तो उसे सदा ही सदाचार का पालन करना चाहिए। सदाचार के पालन से पापमय शरीर वाला भी अपने शरीर व मन के बुरे लक्षणों को दबा देता है। फलस्वरूप धीरे-धीरे उसके पाप पहले दब जाते हैं तथा फिर नष्ट हो जाते हैं, जिससे समस्त प्राणी डरते और तिरस्कृत होते हैं। ऐसा दुराचारी पुरुष कभी बड़ी आयु नहीं पाता। जो नास्तिक क्रियाहीन गुरु और शास्त्र की आज्ञाका उल्लंघन करने वाले, धर्म को न जानने वाले और दुराचारी हैं, उन मनुष्यों की आयु क्षीण हो जाती है। अतः मनुष्य को सदा सदाचार का पालन करना चाहिए व शास्त्र की आज्ञानुसार व्यवहार करना चाहिए।

प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में जागना चाहिए। ब्राह्ममुहूर्त सूर्योदय से पूर्व का समय माना गया है। इस समय पर्याप्त प्राण-शक्तिवर्धिनी आक्सीजन गैस वायुमण्डल में रहती है। उस समय उठने से अधिक आक्सीजन में साँस लेने से अनेक रोग स्वयं ही भाग जाते हैं। प्रकृति प्रातःकाल स्वाभाविक रूप से सफाई का कार्य करती है। अतः मल-मूत्र, नाक व आँख से गन्दगी आदि सुविधा से निकल जाती है। शरीर में मल संचय होने ही नहीं पाता, अततः रोग भी नहीं होते, क्योंकि मल-संचय से ही रोग उत्पन्न होते हैं।

"प्रातःकाल उठकर धर्म व अर्थ का विचार करना चाहिए, अर्थात् आने दिन के धर्मोपार्जन व आर्थिक कार्यों की योजना बनानी चाहिए। फिर शय्या से उठकर शौच, स्नान के द्वारा स्वच्छ होकर संध्यावन्दन करना चाहिए। इसी प्रकार हाथ जोड़कर मौन

होकर सायंकाल को संध्योपासना करनी चाहिए। उदय व अस्त के समय कभी भी सूर्य की ओर नहीं देखना चाहिए। ग्रहण व मध्याह्न के समय भी सूर्य की ओर दृष्टिपात न करो न ही जल में स्थित सूर्य के प्रतिबिम्ब की ओर देखो।" भीष्म पितामह का यह कथन अत्यन्त वैज्ञानिक है। आज भी डाक्टरों का कहना है, कम प्रकाश होने पर भी सूर्य की ओर नहीं देखना चाहिए, क्योंकि मन्द से मन्द किरणों वाले सूर्य-मण्डल में भी एक ऐसी किरण होती है जो मानवीय आंख की पुतली (Ratina) को क्षति पहुँचा सकती है। संध्या वन्दना के द्वारा मन में असीम शान्ति आती है। सांस गहरे व लम्बे हो जाते हैं, जिससे शरीर में रक्त-संचार व रक्त-शुद्धि का कार्य अत्यन्त अनुकूलता से प्रभावित होता है। शरीर के अधिक से अधिक नसों व नाड़ियों में खून का संचार होने से वहां का (Local) स्थानीय विजातीय द्रव्य, खून के साथ-साथ शुद्धि हेतु हृदय में पहुँच जाता है। जितनी एकाग्र मन से व लम्बी अवधि तक पूजा-पाठ होगा, उतना ही अधिक यह लाभ होगा। सन्ध्याकाल में (प्रातः अथवा सायं) जब दिन-रात मिलते हैं, पूजा-पाठ का विशेष लाभ होता है। इस समय मन सरलता से एकाग्र होता है।

अग्निहोत्र भी पूजा-पाठ की भांति आयुवर्धक व रोगविनाशक है। विधि अग्नि-शास्त्रों के धुएं में भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगाणुओं का नाश करने की शक्ति है। इस विषय पर ऋषिकेश के निकट शान्तिकुञ्ज नामक आश्रम में सविस्तार शोध किया जा रहा है। इच्छुक सज्जन अधिक जानकारी हेतु सप्त-सरोवर हरिद्वार के पास स्थित शान्तिकुञ्ज से सम्पर्क कर लाभान्वित हो सकते हैं।

यज्ञों की इस उपयोगिता को मद्दे नजर रखते हुए आर्यों ने यज्ञ को अनिवार्य दैनिक कार्य बताया है। वैसे तो सन्ध्या, पूजा आदि अनेक लाभ होते हैं। परन्तु यहां पर केवल उनका आयुवर्धक पक्ष ही प्रस्तुत किया गया है।

पूजा का एक पक्ष जप व स्वाध्याय भी करने का नियम है कि गोधूलि बेला में नहीं पढ़ना चाहिए। झूठे मुँह भी नहीं पढ़ना या पढ़ाना चाहिए। यदि दुर्गन्ध युक्त वायु चले तो स्वाध्याय का विचार भी मन में नहीं लाना चाहिए। महाभारत में ही एक उद्धरण है जो यमराज द्वारा गाये हुए श्लोक है—

आयुरस्य निकृन्तामि
प्रजास्तस्याददे तथा।
उच्छिष्टो य प्राद्रवति
स्वाध्यायं चाधिगच्छति॥
यश्चानध्यायकालेऽपि
मोहादभ्यास्यति द्विजः।
तस्यवेदः प्रणश्येत्
आयुश्चास्य परिहीयते॥

तस्मादुच्छो ह्यनध्याये
नाधीयीत कदाचन ॥
—महाभारत अनु०/१०४/७२-७४

अर्थात यमराज कहते हैं, "मनुष्य जूठे मुँह दौड़ता और स्वाध्याय करता है, मैं उसकी आयु नष्ट कर देता हूँ और उनकी सन्तानों को भी छीन लेता हूँ। जो मोहवश के समय भी अध्ययन करता है, उसके वैदिक ज्ञान व आयु का नाश हो जाता है।

आधुनिक युवावर्ग को शायद ये बातें विवादास्पद लगें, परन्तु जीवन जीते-जीते प्रौढ़ावस्था तक पहुँचते पहुँचते, हम अपने अनुभवों से इस कथन की सत्यता को परख सकते हैं। गोधूलि बेला में प्रकाश मन्द होता है, तथा पूरी तरह रात न होने के कारण विद्युत बल्ब आदि द्वारा भी प्रकाश नहीं किया जाता। तब मन्द प्राकृतिक प्रकाश में पढ़ना नेत्र ज्योति को क्षीणतोन्मुख कर देगा। इसी प्रकार जूठे मुँह पढ़ने से भी भोजन के कण दाँतों में चिपके रहने से पाठक का ध्यान उन कणों को चबाने इत्यादि में ही रहेगा व ध्यान एकाग्र न होने पर उसे पाठ कण्ठस्थ ही न होगा। अतः हमारे पूर्वजों ने अपनी सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल ही वे नियम बनाये जो आज भी लाभदायक हैं।

मानसिक शांति का सबसे बड़ा शत्रु है क्रोध। क्रोध में आकर मनुष्य न करने योग्य ऐसे कार्य कर डालता है जिनके लिए वह पश्चात्ताप करता रहता है। वह क्रोध के कारण वह पराई हत्या या आत्म हत्या तक कर डालता है। हिंसा का प्रतिकार भी हिंसा ही होता है जिससे अपनी व औरों की आयु का नाश होता है। कभी क्रोध में किसी को भी मारना, गिराना, अथवा दुर्वचन भी नहीं कहना चाहिए।

वाणी पर संयम रखना चाहिए। किसी की निन्दा, बदनामी या चुगली न करो। दूसरों के मर्म पर आघात न करो, क्रूरतापूर्ण बात न बोलो औरों को नीचा न दिखाओ। दूसरों को उद्वेगजनक बात कभी न बोलो। पितामह भीष्म कहते हैं कि ऐसी बात पापियों के लोक में ले जाने वाली होती है। वास्तविक्ता तो यह है कि दूसरों को उत्तेजित या दुखी करने वाली बात का फल वक्ता को जान या माल की हानि करवा सकती है। अतः कटु वचन त्याज्य है। बाणों से बिंधा या कुल्हाड़ी से कटा वन पुनः अंकुरित हो जाता है। किन्तु दुर्वचन का घाव कभी नहीं भरता। तीर या अन्य शस्त्रों के घाव भी शस्त्र निकालकर चिकित्सा द्वारा भरे जा सकते हैं परन्तु वचन रूपी तीर को नहीं निकाला जा सकता है क्योंकि वह हृदय के भीतर चुभा होता है अतः अपना भला चाहने वाला मनुष्य कभी ऐसी वचन न बोले जिससे श्रोता उद्विग्न या क्रुद्ध होकर उसके शरीर पर प्रहार करे अथवा

करने का विचार करे, अथवा अन्य किसी प्रकार से हानि पहुँचाना चाहे।

सबसे सदा मधुर व्यवहार करना, सदाचार का पालन, देवता, माता-पिता व गुरु का सम्मान करना नित्य ही आयुवर्धक कहे गये हैं कहा गया है कि—

अभिवादनशीलस्य
नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते
आयुः विद्या यशोबलम्॥

गुरुजनों व माता-पिता या अन्य वृद्धजनों को प्रणाम करने का रहस्य भी वेदव्यास जी ने वर्णन किया है। वे कहते हैं—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति
यूनः स्थविरे आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां
पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥
अभिवादयीत वृद्धांश्च
दद्याच्चैवासनं स्वयम्।
कृतांजलिरुपासीत
गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात्॥
—अनु०/१०४/६४-६५

अर्थात् वृद्ध पुरुष के आने पर तरुण पुरुष के प्राण ऊपर की ओर उठने लगते हैं। ऐसी दशा में जब वह खड़ा होकर वृद्ध पुरुषों का स्वागत व उन्हें प्रणाम करता है, तब वे प्राण पुनः पूर्वावस्था में आ जाते हैं। इसलिए जब कोई वृद्ध पुरुष अपने पास आवे तो उसे बैठने को आसन दो व स्वयं हाथ जोड़कर उसकी सेवा में उपस्थित रहो। जाते समय थोड़ी दूर तक उसके पीछे-पीछे जाओ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सदाचार, शिष्टाचार, पूजा पाठ, अग्निहोत्र आदि सत्कर्मों से आयु दीर्घ होती है।

(२) शरीर की देखभाल से दीर्घायु—

दीर्घायु पाने के लिए सदाचार धर्म का पालन, शिष्टाचार आदि के अतिरिक्त शरीर की देखभाल, चोटों से बचना, रोगों से बचाव, उचित ढंग का भोजन, निद्रा, स्नान आदि के नियमों का भी समुचित रूप से पालन करना चाहिये।

सर्वप्रथम तो शरीर को सदा स्वच्छ रखना चाहिये। शौच, दाँत साफ करना, स्नान आदि प्रतिदिन करना चाहिये। शौच करते व मूत्र त्याग करते दिनमें उत्तर की ओर मुँह रखना चाहिये तथा रात में दक्षिण की ओर। पेशाब कुछ दूरी पर जाकर ही करना चाहिये अन्यथा उसकी दुर्गंध वायुमण्डल को दूषित कर देगी। कभी भी खड़े होकर पेशाब नहीं करना चाहिये। ऋषि के इस कथन का तात्पर्य है कि खड़े होकर पेशाब करने पर पेशाब की छींटें कपड़े व पैरों पर पड़ती हैं जिससे पैरों पर कोई भी त्वचा सम्बन्धी रोग हो सकता, जैसे एग्जीमा इत्यादि। मलमूत्र त्यागने के बाद उसे देखो नहीं, न ही पैर रखो। बाद में पैर भी धोओ। रात में अथवा शौचालय में

पेशाब न करो। बोये हुए खेत में, गांव के आसपास तथा पानी में भी कभी मलमूत्र नहीं त्यागो। बढ़ी हुई व कटने वाली खेती में भी मलमूत्र न त्यागो, इससे फसल दूषित होने का डर रहता है। देव-मन्दिर व देव सम्बन्धी वृक्ष व विश्राम-स्थान के निकट भी मलमूत्र का त्याग नहीं करना चाहिये। इससे वायु-मण्डल दूषित होगा व स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। जो अग्नि, सूर्य, गौ व ब्राह्मणों की ओर मुँह करके पेशाब करते हैं या बीच रास्ते में पेशाब करते हैं उनकी आयु क्षीण होती है। इस प्रकार पेशाब करने से पेशाब की कौन-कौनसी बीमारियां हो जाती है यह शोध का विषय है।

मलमूत्र त्याग के अतिरिक्त दन्त धावन दूसरा आवश्यक शुचि कर्म है। सदा मौन होकर दांतुन करना चाहिए, अन्यथा सांस की नली में दांतुन का तिनका जा सकता है। प्रातःकाल प्रतिदिन दांतुन करो, अमावस्या जैसे पर्व को नहीं करना चाहिए। शास्त्र-विहित दांतुन ही करो, शास्त्रनिषिद्ध दांतुन नहीं। दांतुन चबाने से स्पष्ट ही दांतों का व्यायाम होता तथा मसूड़ों व दांतों की सभी नाड़ियों में रक्तसंचार होने से दांत स्वस्थ रहते है। इन लकड़ी के दांतुनों का रस, दांतों के लिये औषधि का कार्य करता है। पायरिया सांस की दुर्गन्ध आदि अनेक रोगों से दांतों को बचाया जा सकता है।

दन्तधावन के पश्चात् स्नान करते समय भी कुछ नियमों का पालन करना चाहिये। दूसरे व्यक्ति के नहाये हुए जल का प्रयोग न करो। क्योंकि इससे संक्रामक रोग लग सकते हैं। कभी भी नंगे होकर स्नान न करो। प्रसाधन जैसे चन्दन अंगराग, स्नानपूर्व नहीं बल्कि बाद में लगाओ। स्नानोपरान्त अंगों में मालिश भी न करो। रात में भी स्नान करो। शाड़, चन्दन, बिल्व, तगर तथा केसर के द्वारा पृथक्-पृथक् उबटन लगाना चाहिये। स्नानोपरान्त ललाट पर गीला चन्दन लगाओ। श्वेत पुष्पों की माला पहनो। कमल व कुवलय धारण करो। मस्तक पर शालरत्न के फूल या अन्य अन्य पुष्प धारण करो।

वस्त्र सदा ही साफ सुथरे हों। दूसरों के पहने कपड़े कभी न पहनो। फटे किनारे वाले वस्त्र वर्जनीय है। सोने के लिये दूसरा वस्त्र होना चाहिए। सड़कों पर घूमने के लिये व देव पूजा के लिये अलग-अलग वस्त्र होने चाहिये।

स्नानोपरान्त देव पूजा आदि नित्यकर्म करके भोजन करना चाहिये। शास्त्र विहित भोजन, पूर्ण शुद्धता के साथ तैयार किया जाना चाहिये। फिर शान्त व एकाग्र मन से भोजन करना चाहिये।

सबसे पहला नियम है कि भोजन को केवल अपने ही लिये नहीं बल्कि देव पूजा को

दृष्टि से बचाओ। अतिथि, वृद्ध, पशु, पक्षी आदि जो भी घर में हों, उन्हें पहले अर्पित करो। फिर शान्त मन से पूर्व की ओर मुख करके भोजन करो। भोजन बैठकर ही करना चाहिये, खड़े-खड़े या चलते-फिरते या सोते हुये या वार्तालाप करते हुये नहीं। एक पंक्ति में बैठकर सबको एक समान भोजन करना चाहिये। भूखों को दिये बिना ही अकेला खाने वाला केवल हलाहल विष खाता है। भोजन पूर्व आचमन करके शुद्ध होकर मौन होकर भोजन करो। एक ही वस्त्र पहनो। भोजन के समय अन्न की निन्दा न करो न ही अन्य कोई बात करो। अग्नि का ध्यान करो भोजन के पहले बाद में भी अग्नि का मन से स्पर्श करो।

कभी भी किसी के साथ एक पात्र में मत खाओ। रजस्वला स्त्री के स्पर्श से दूषित भोजन तथा जिसका सार निकाला जा चुका है ऐसा भोजन, न खाओ। यदि किसी की [illegible] दृष्टि भोजन पर पड़ गई हो, तो उसे दिये बिना मत खाओ। अपवित्र अथवा महात्मा पुरुषों के सामने बैठ कर भोजन न करो। जिसमें बाल पड़ गया हो, वह भोजन न खाओ। शत्रु के श्राद्ध में कभी अन्न ग्रहण न करो। भक्ष्य पदार्थ को भूमि पर रखकर मत खाओ। हाथ में नमक लेकर मत खाओ। रात में दही व सत्तू मत खाओ। मांस सर्वथा अग्राह्य वस्तु है अतः इसे त्यागो। कल्याणकामी मनुष्य भोजन के अन्त में दही या जल आदि पेय पदार्थ जो बचे हों, कभी न खाए। रात में कभी डटकर भोजन न करो न ही किसी दूसरे को कराओ। भोजन के पश्चात् कुल्ला करके हाथ मुँह धोकर एक हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे पर पानी डालो फिर सिर पर हाथ रख कर मन ही मन अग्नि का स्पर्श करके हाथ पोंछ लो। कभी भी सायंकाल में भोजन नहीं करना चाहिये।

इन नियमों के पालन से खाया हुआ पवित्र भोजन स्वास्थ्यकर होता है व शीघ्र ही पच जाता है। बचे हुए भोजन या जूठन को दूर फेंको। सोते भी हाथ मुंह जूठे नहीं रखने चाहिए। नख चबाना, ढेले तोड़ना, तिनके तोड़ना व सदा ही कोई न कोई अंग हिलाते रहना आयु का नाश करता है। जूठे हाथों से कोई भी तेजस्वी पदार्थ यथा अग्नि देवता, गौ, ब्राह्मण का स्पर्श नहीं करना चाहिए। अपने मस्तक को भी जूठे हाथों से स्पर्श नहीं करना चाहिए क्योंकि समस्त प्राण मस्तक के ही आश्रित हैं। उच्छिष्ट मनुष्य को सूर्य-चन्द्र व नक्षत्र भी नहीं देखने चाहिए। अतः सदा भोजन के बाद हाथ मुँह धोकर शुद्ध हो जाना चाहिए।

शरीर की रक्षा में पूर्ण सावधानी बरतो। मार्ग में अश्वत्थ आदि परिचित वृक्षों तथा समस्त चौराहों को दाहिने करके जाओ।

दोपहर में, रात में विशेषतः आधी रात के समय और दोनों संध्याओं में कभी चौराहे पर न रहो। अत्यन्त सवेरे, अधिक सांझ हो जाने पर और ठीक दोपहर के समय कहीं बाहर न जाओ। शुद्र, नास्तिक अथवा अपरिचित के साथ भी न जाओ। काम पड़ने पर भी नास्तिकों के साथ न जाओ, चाहे वे शपथ खावें या प्रतिज्ञा ही क्यों न करें। सिर के बाल पकड़ कर खींचना व मस्तक पर प्रहार करना वर्जित है। दोनों हाथ सटाकर उनसे अपना सिर न खुजलाओ। बारम्बार मस्तक पर पानी न डालो। सिर पर तेल लगाने के बाद उसी हाथ से दूसरे अङ्गों का स्पर्श नहीं करना चाहिए। सिर सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। इसकी देखभाल का आयु के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसे चोटों व घटनाओं से बचाने का पूर्ण प्रयास करो। गले में पहनी माला न खींचो, उसे कपड़े के ऊपर न करो। भूसी, भस्म, बाल व मृतक की खोपड़ी पर न बैठो। फटे आसन पर भी न बैठो। आसन को पैर से खींचकर भी न बैठो।

दिन भर के कामों से थक कर रात को नींद आती है। शयन के विषय में भी आर्यों ने सावधानी बरतने की सलाह दी है। सायंकाल व सूर्योदय काल में न सोओ। उत्तर व पश्चिम की ओर सिर करके न सोओ। सदा पूर्व व दक्षिण की ओर ही सिर करके सोओ। टूटी व ढीली चारपाई पर न सोना चाहिए। अंधेरे में पड़ी हुई शय्या पर भी अचानक से सोना उचित नहीं है, प्रकाश में भलीभांति उसे देखकर ही सोना चाहिए। किसी दूसरे के साथ एक शय्या पर न सोओ। पलंग पर कभी तिरछा होकर नहीं बल्कि सीधा ही सोना चाहिए। नंगे होकर अथवा झूठे हाथ मुँह भी नहीं सोना चाहिए। दिन में सूर्योदय के तुरंत बाद सोना आयुनाशक है। वस्तुतः आयुर्वेद के अनुसार दिन में सोना कफकारक है, तथा कफ से अनेक रोगों का उपद्रव शुरू होता है। अतः सदा रात के दूसरे व तीसरे पहर में ही सोना चाहिए। जब वायुमण्डल में सूर्य का बिल्कुल प्रभाव न हो।

दीर्घ आयु पाने के लिये ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन अतीव आवश्यक है। विवाह के पूर्व व विवाह के पश्चात् भी वीर्य की प्रयत्न-पूर्वक रक्षा स्वास्थ्य पर अनुकूल प्रभाव डालती है। इसीलिये ब्रह्मचर्याश्रम में पूर्ण वीर्य रक्षा का आदेश है। विवाह पूर्व कभी मैथुन नहीं करना चाहिये। अन्यथा ब्रह्मचर्य व्रत भंग करने का अपराध हो जायेगा व फिर प्रायश्चित करना पड़ेगा। श्रेष्ठकुल की, व उत्तम लक्षणों से सम्पन्न विवाह योग्य उम्र वाली श्रेष्ठ कन्या से विवाह करो। अपनी पत्नी के साथ केवल ऋतुस्नानोपरान्त ही सम्भोग करना चाहिए जब तब नहीं। रजस्वला के साथ कभी भी सम्भोग नहीं करना चाहिए। दिन में कभी भी मैथुन न करो। कभी भी

'शीर्षासन' आरोग्य का अमोघ साधन

● श्री रामगोपाल सैनी

योगासन हमारे पूज्य ऋषि-मुनियों की अमर देन है। योगासनों में 'शीर्षासन' का अपनी महत्ता के कारण शीर्षस्थ स्थान है। आधुनिक भौतिक युग में यह योगासन व्यक्ति को निरोग रखने में पूर्णतः सक्षम है। लेकिन खेद है कि जिन लोगों ने पुस्तकीय ज्ञान अथवा कहीं से थोड़ा सा भी ज्ञान आसनों के सम्बन्ध में प्राप्त कर लिया है। ऐसे तथाकथित योगियों ने इसे व्यावसायिक रूप दे डाला है। यही कारण है कि लोगों में इसके प्रति अभिरुचि नहीं रही। देखने आया है कि एलोपैथिक चिकित्सा प्रणाली वाले भी मेडिकल कालेजों में लाभ न होने पर आसन करने की सलाह मरीज को देते हैं। और यह भी देखा गया है कि आसन विधिपूर्वक करने से लोगों को असाध्य बीमारियों से मुक्ति मिल जाती है। इस आसन की उपयोगिता के कारण ही पं० जवाहरलाल नेहरू आजीवन नियमित रूप से शीर्षासन करते रहते थे। चाहे वे देश में रहें या विदेश में रहें यह आसन वे करते-रहते थे। फलस्वरूप वे अधिक आयु में अधिक फुर्तीले, परिश्रमी तथा तेज कार्यक्षमता से परिपूर्ण एवं आजीवन स्वस्थ रहे।

शीर्ष का साधारण अर्थ है सिर। इस आसन में सिर नीचे और पैर ऊपर की ओर

(पिछले पृष्ठ का शेष)

कुमारी, कुलटा या पराई स्त्री के साथ संभोग न करो। पराई स्त्री की ओर न देखो न एकांत में उसके साथ एक आसन पर बैठो। इन्द्रियों को सदा वश में रखो न स्वप्न में भी शुद्ध मन रखो। अपरिचित अथवा गर्भिणी के पास न जाओ। किसी भी वर्ण के पुरुष को पराई स्त्री से संसर्ग नहीं करना चाहिए। परस्त्री सेवन से बढ़कर आयुनाशक कुछ भी नहीं है। स्त्रियों के शरीर में जितने भी रोमकूप होते हैं उतने ही हजार वर्ष व्यभिचारी पुरुष नरक में रहता है। वीर्यरक्षा ही आत्मरक्षा है। अतः सावधान होकर मनुष्य को अपनी रक्षा करनी चाहिए।

इस प्रकार दीर्घ आयु पाने के साधनों का उल्लेख आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों से भी प्रमाणित होता है। दीर्घायु के इच्छुक लोगों को इनका पालन करना चाहिए। [पश्चिमपुरी नई दिल्ली

किये जाते हैं, इसीलिए इसे शीर्षासन कहते हैं। कपाल के बल खड़ा होने से कपालासन, उल्टा खड़ा होने से विपरीत करनी और और वृक्ष की भांति सीधा खड़ा होने से इसे वृक्षासन नाम से भी पुकारा जाता है।

शीर्षासन करने की विधि—

शीर्षासन सीखने वाले व्यक्तियों को चाहिए कि वे किसी योग-प्रशिक्षण केन्द्र में जाकर सीखें किन्तु सर्व साधारण के लिए संक्षिप्त विधि इस प्रकार है—एक मोटे तौलिए धोती, गमछा की कुण्डली बनाकर उस पर अपना सिर रखें तथा दोनों हाथ की उँगलियों को आपस में फँसाकर कपाल को साधे रहें एवं दोनों हाथ जमीन पर रहें। दोनों पैरों को एक साथ मिलाकर धीरे-धीरे आकाश की ओर तान देते हैं और पञ्जे ऊपर की ओर खींचे रहते हैं। प्रारम्भ में यदि कोई व्यक्ति सहारे को न हो तो शीर्षासन दीवाल की कोनियों में करना अच्छा रहता है। इसमें गिरने की आशङ्का नहीं रहती। शीर्षासन करते समय आँखें खोले रखें तथा अपने पैरों के पञ्जों को देखता रहे। आसन करने के उपरान्त पैर धीरे-धीरे जमीन पर लावें। तथा पैर के पञ्जों के बल आधा मिनट जमीन पर उठें। इसके करने से सिर की ओर गया हुआ रक्त नीचे की ओर आ जाता है।

शीर्षासन करने का समय—

यह आसन उषाकाल में बिना कुछ खान-पान किये हुए करना चाहिए। पहिले दिन एक क्षण (१५-२० सेकेण्ड) दूसरे दिन आधा मिनट। इस प्रकार एक माह में २ मिनट तक अभ्यास बढ़ा लेना चाहिए। विद्यार्थियों को ५ मिनट तथा गृहस्थों को २ मिनट तक नियमित व निर्धारित समय पर करना चाहिए।

जो साधक शीर्षासनका अभ्यास करता रहता है उसकी जठराग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जिसके कारण साधक की भूख बढ़ जाती है। शीर्षासन के अभ्यासी को भूखा नहीं रहना चाहिए तथा भूखे रहने वाले अधिक व्रतादि भी नहीं करना चाहिए। भूखे रहने से उस साधक को लाभ के स्थान पर हानि होगी।

शीर्षासन से लाभ—

१. शीर्षासन से रक्त का प्रवाह विपरीत दिशा की ओर हो जाता है जिससे सरदर्द मंदाग्नि की कमी दूर होती है, आँखों की ज्योति बढ़ती है। दीर्घकाल तक करते रहने से पलक छूट जाती है। छाती एवं मस्तिष्क की समस्त व्याधियों से मुक्ति मिलती है।

२. शीर्षासन से असमय में बाल झड़ना और सफेद होना, सर में रूसी जमना, बालों का जल्दी धवल होने से रोकती है।

३. शीर्षासन करने से रक्त हृदय तक आसानी से प्रवाहित होता है, इससे हृदय को आराम का अवसर मिलता है, हृदय को

शक्ति बढ़ती है।

४. शीर्षासन से फेफड़ों को शक्ति मिलती है शुद्ध रक्त सम्पूर्ण शरीर में पहुँचने से शरीर निरोग रहता है।

५. शीर्षासन से जठराग्नि प्रदीप्त होती है, भूख अच्छी लगती है, पाचन क्रिया ठीक रहती है।

६. शीर्षासन से आँतों का बोझ पेट की बाहरी स्नायुओं पर पड़ता है इससे पेट का भारीपन मिट जाता है। जिनकी तोंद निकल आती है, शरीर बेडौल लगने लगता है, इसके अभ्यास से शरीर का थुल-थुलापन मिट जाता है। अल्पायु में जिन लड़के-लड़कियों का शरीर भारी भरकम हो जाता है, शीर्षासन के ५ मिनट के नियमित अभ्यास से अनावश्यक मोटापा घट जाता है।

७. शीर्षासन करने से नाभि से निचला पेट हल्का हो जाता है और आँतों को अनुकूल गति प्राप्त होती है। अपान वायु यदि कहीं रुकी हुई होती है तो बाहर निकाल देती है इसके छः माह के अभ्यास से मस्तिष्क दुर्बलता दूर हो जाती है।

८. शीर्षासन से सभी प्रकार के वीर्य विकार नष्ट हो जाते हैं। स्वप्न दोष का विनाश हो जाता है। नाभि-मण्डल के नीचे भाग को ऊर्ध्वाकर्षण करने से साधक अवश्य ही ऊर्ध्वरेतसता को प्राप्त कर लेता है।

९. शीर्षासन के नियमित अभ्यास से प्रारम्भिक अवस्था की शुगर की बीमारी जड़ से ठीक हो जाती है।

१०. शीर्षासन से चेहरा की झाँई एवं झुर्रियाँ मिट जाती हैं। चेहरे का सौन्दर्य एवं कान्ति बढ़ती है।

११. शीर्षासन से रीढ़ की हड्डी में लचक आती है जिससे अभ्यासी दीर्घायु होता है एवं बुढ़ापा नहीं आता है।

१२. शीर्षासन से शरीर में बीमारियों से लड़ने की प्रतिरोधक शक्ति पैदा हो जाती जिससे व्यक्ति बीमार नहीं पड़ता।

॥ तद् विष्णोः परमं पदम् ॥

अनाहत शब्द की विशेष ध्वनि होती है, उस ध्वनि के अन्तर्गत जो ज्योति है, उस ज्योति के अन्तर्गत जो मन होता है वह मन जहाँ विलय को प्राप्त होता है वह स्थान ही विष्णु का परम पद है।

कुण्डलिनी शक्ति यदि कण्ठ के ऊर्ध्व मार्ग में निहित रहती है तो वह योगियों के लिए मुक्ति का कारण बनती है और अधोभाग में मूढ़ लोगों के बन्धन का हेतु होती है। निद्रा हटने पर यह इड़ा पिङ्गला मार्ग को त्यागकरके सुषुम्ना मार्ग में गमन करती है। यह विष्णु का परम पद है।

—गोरख बाबा

सद्गुरुदेव-वंदना

✍ श्री रामप्रकाश अनुरागी

(१)

मोह में फँसो है ज्ञान, माया में धँसो है प्राण,
ध्यान परिवार में या मान या मकान में।
चाहते हुये भी हो न पाये नियमित जाप,
आपने जो गुरु-मंत्र फूँको मेरे कान में।
आप योग-योगेश्वर फिर ये वियोग कैसी ?
आप की कृपा हो तभी ज्ञान आये ज्ञान में,
सिद्ध योगिराज चन्द्रमोहन जी महाराज।
मेरो तो कल्याण सिद्ध–वाणी–वरदान में॥

(२)

आपको परम प्रभु अमरता प्रदान करें
आप के लिये ये दिन-रात करूँ कामना।
दैहिक-दैविक और भौतिक संताप-ताप,
आप से डरें, कभी न कर सकें सामना।
आपके भक्ति से हो सिद्धि मिले साधकों को,
काम-क्रोध लोभ-मोह को मिले प्रताड़ना।
सिद्ध योगिराज चन्द्रमोहन जी महाराज,
मेरे गुरु मेरी बलहीन बाँह थामना॥

संकल्प शक्ति

संकल्प को शुद्ध, परिपूर्ण और मजबूत बनाने के लिए पहले छोटे-छोटे संकल्प करने चाहिये, और उन्हें पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए। संकल्प को पूरा करने पर एक बल की अनुभूति होती है। इसे ही आत्म विश्वास कहते हैं।

सत् संकल्प से आत्मा की उन्नति होती है। विवेक द्वारा पूर्ण विचार करके संकल्प करना चाहिए। यदि कोई उसमें कुछ व्यावहारिक दोष भी बताऐं, तो भी उसे छोड़ना नहीं चाहिए। जो व्यावहारिक हानि खुद को उठानी पड़े, उसे उठा लेना चाहिए। व्यावहारिक दोष इतने घातक नहीं हैं जितने कि आध्यात्मिक।

जन्मान्तर

स्वामी श्री सनातनदेवजी

जन्मान्तर स्वीकार करने वालों में भी कुछ लोगों का मत है कि मनुष्य दूसरे जन्म में मनुष्य ही होता है। वह पशु-पक्षी या किसी अन्य योनि में नहीं जा सकता, क्योंकि उसमें मानवोचित संस्कार सद्‌भूत हो जाते हैं। परन्तु शास्त्र और विचार दृष्टि से यह बात भी युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती। जीव का स्वभाव है कि वह जिस परिस्थिति, अवस्था या शरीर में होता है, उसी से उसका तादात्म्य हो जाता है। जब आप विद्यालय में अध्ययन करते हैं तब अपने को विद्यार्थी मानते हैं। जब अध्ययन समाप्त करके पढ़ाना आरंभ कर देते हैं तो अपने को अध्यापक मानने लगते हैं। इस प्रकार परिस्थिति परिवर्तित होते ही आप की अहंता बदल जाती है। जाग्रत अवस्था में अपने को वयोवृद्ध अध्यापक के रूप में देखते हैं और स्वप्न में युवक विद्यार्थी के रूप देखते हैं तो उस अवस्था में भी आपको कोई संदेह नहीं होता। अतः अवस्था के परिवर्तन से भी आपकी अहंता बदल जाती है। इसी प्रकार जब सम्बन्ध, पद, प्रान्त और धर्म के परिवर्तन से भी आपकी अहंता का परिवर्तन होता देखा गया है तो मृत्यु के द्वारा देहान्तर की प्राप्ति होने पर अहंता के परिवर्तन में कोई बाधा कैसे आ सकती है? अतः उपर्युक्त वर्तमान के आधार पर शास्त्रीय सिद्धान्त को स्वीकार न करना युक्तियुक्त नहीं है।

इस प्रकार निश्चय हुआ कि जिस प्रकार प्रत्येक प्रतीयमान पदार्थ परिवर्तित होता रहता है, उसी प्रकार जीव भी अपने संस्कारों के अनुसार नये-नये शरीर धारण करता रहता है। संसार में ऐसा तो कोई पदार्थ नहीं है, जिसमें परिवर्तन न होता हो अथवा जिसका सर्वथा उच्छेद हो जाता हो। जो कुछ प्रतीत होता है, वह न तो शाश्वत है और न अलीक है। यद्यपि जीव वास्तव में तो शुद्ध चिन्मात्र एकरस और शाश्वत तत्त्व है, किन्तु परिवर्तनशील शरीर से तादात्म्य स्वीकार करके वह कर्ता, भोक्ता तथा जन्म-मरणशील बना रहता है, यही उसका बन्धन है। जब तक वह अविवेक बना हुआ है, तब तक जन्म-मरण के चक्र से उसका छुटकारा नहीं हो सकता। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा उसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध प्राप्त हो जाता है, तब तो संसार की सत्ता ही नहीं रहती। यही उसकी मुक्ति है। फिर शरीर या शरीर के धर्मों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता और वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। किन्तु जब तक प्रतीति की सत्ता है, तब तक परिवर्तन भी अनिवार्य है और इस परिवर्तन का ही एक नाम जन्म-मरण भी है। यह जन्म-मरण की परम्परा ही जन्मान्तर या पुनर्जन्म है। अतः परिवर्तन की प्रतीति ही पुनर्जन्म का मौलिक आधार है।

ऋषि-वार्ता

श्री अशोक व्याकुल

मेरे दिन मेरी रातें थीं।
जङ्गल में घर की बातें थीं।
अग्निहोत्र के धुँए के सङ्ग,
घूमा करती थी प्रतिध्वनियां,
मेरी गति अविराम थी,
मैं अपने में।
इतना उन्नत, इतना अधिक विशाल था,
कि अब पर उभरे अलगावों में,
मुझ पर सबकी आँख थी।
मेरा जीवन-गीत इस तरह गूँजा
जब मेरे घनश्याम राम पर
जिन्दाबाद मकान था
सबका जीवन आकर्षण था
पर कैलाशधाम था
मगर घर घर
आज न जाने क्या होता है
जो मुझ तक भेजा है

स्वर दर्दीले गाँव का
मैं हूँ मैं प्रस्तुत हूँ बोलो
मैं मन्त्री हूँ राम का।
तब फिर कोई और ऋषीश्वर
जो समाधि में लीन थे
बोले रोकर
छलछल करती आँख से—
ऋषिवर तुम तो चले गये थे
अन्तरिक्ष के द्वार से
मैं हूँ अब तक का देखो
गूँगा मौन गवाह हूँ
उनकी चिमनी और धुँआ है
भीड़भाड़ की भागदौड़ है
मैं सच में हैरान हूँ
वह दिन कहाँ नहीं शायद
जिनमें थे मधुमास थे
अब हम खिले कपास थे
फूले हुए पलाश थे।

अपने सधे चरण दे दूँगा

अरमानों के रङ्ग-पङ्ख से, नीचे फेंकी गई साधना।
कोलाहल से भरी भीड़ में, दबी-दबी भर गई प्रार्थना।
बहकी हुई हवाओं ने सब, उड़ा दिये गरमीले बादल।
दोषों की अनुचरी तर्जनी, पोंछ गई आँखों का काजल।
धरती के पाँव पर उग आयें अम्बर की आँखें खुल जायें,
मैं हर सहमें हुए क्षितिज का, ऐसा वशीकरण दे दूँगा।

ममैवांशो जीव लोकः

श्री दुर्गेश्वरानन्द शास्त्री

हमारी आत्मा उस परमात्मा का अंश है, हम उस परमात्मा रूपी सागर की बूँदें हैं और जब तक हमारी आत्मा ज्ञान द्वारा उस परमात्मा से मिलन नहीं होती, तब तक जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकता। इसलिये जीवमात्र को उस परमात्मा से मिलने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह मनुष्य जन्म केवलमात्र ईश्वर प्राप्ति के लिए ही मिला है। चौरासी लाख योनियाँ भोगने के बाद मनुष्य देह प्राप्त हुई। मनुष्य जन्म देव दुर्लभ है, क्योंकि कर्म करने का अधिकार मनुष्य को ही है, अन्य योनियाँ सब भोग-योनियाँ हैं। जो मनुष्य इस शरीर में स्थित आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, उसका जन्म सार्थक है, अन्यथा पुनः चौरासी लाख योनियों के दुःख भुगतने पड़ेंगे। इस प्रकार की चेतावनी हमारे ऋषि, सन्त, महात्मा देते हैं। लेकिन मृग-तृष्णा के सदृश जिन विषयों के पीछे मनुष्य आनन्द तथा सुख समझता है, प्राप्ति पर वही दुःख तथा बन्धन सिद्ध होते हैं। वास्तविक सुख कहाँ है? इस प्रकार की खोज प्रारम्भानुसार ही होती है। जैसे तो छोटे से छोटे कीट से लेकर बड़े से बड़े प्राणी प्रतिक्षण तीनों प्रकार के आध्यात्मिक, आधि-दैविक और आधि-भौतिक दुःखों की निवृत्ति का प्रयत्न करते रहते हैं।

आत्यन्तिक दुःखों की निवृत्ति तथा आत्मा का परमात्मा में मेल का साधन हमारे शास्त्रों, ऋषि-मुनियों तथा योगियों ने "योग" बताया है।

योग शब्द युक्ति अर्थात् मेल 'युज समाधौ' इस धातु से समाधि अर्थ में प्रयुक्त होता है। पातञ्जल योग-दर्शन में "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" अर्थात् चित्तवृत्तियों का रुकना योग है। जो बाहर चित्त की वृत्तियाँ प्रतिक्षण जागती रहती हैं, उन बहिर्मुख वृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करके अपने आत्म चित्त में लीन कर देना योग है। अभ्यास और वैराग्य से सत्व का प्रकाश बढ़ता जायेगा और रज और तम तिरोभाव होकर मन एकाग्रता की प्राप्ति से स्वरूप में अवस्थिति होता है। एकाग्र वृत्ति ही योग है, यह सारी सृष्टि सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों का मिश्र है, इसी को माया भी कहते हैं। यथा—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः,
सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति,
मामेभ्यः परमव्ययम्॥

अर्थात् सात्विक, राजस और तामस इन तीनों गुणों के भावों से अर्थात् राग, द्वेष, क्रोधादि विकारों से और सम्पूर्ण इन्द्रिय-विषयों

से यह सब जगत मोहित हो रहा है, इसलिए इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी को तत्व से नहीं जानता—

दैवी ह्येषा गुणमयी,
मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते,
मायामेतां तरन्ति ते ॥

यह अलौकिक, अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योग-माया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो मेरे को ही निरन्तर भजते हैं वे ध्यान योगी इस त्रिगुणमयी माया के प्रभाव में न आकर संसार से तर जाते हैं।

बिना गुणों के साक्षात्कार किये हुए स्वरूपा-स्थिति दुर्लभ है। त्रिगुणमयी माया को प्रकृति भी कहते हैं। प्रकृति और जीवात्मा दोनों ही अनादि हैं। यथा—

प्रकृतिं पुरुषं चैव,
विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव,
विद्धि प्रकृति संभवान् ॥
(गीता १३/१९)

अर्थात् प्रकृति (त्रिगुणमयी मेरी माया) और जीवात्मा इन दोनों को अनादि जान और रागद्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान। इन गुणों के संग से ही इस जीवात्मा का अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेना कारण है। सत्वगुणी देवयोनी, रजोगुणी मनुष्य योनि, तमोगुणी पशु-पक्षी आदि अधम योनियों में जाते हैं और जो त्रिगुणातीत है वह मुक्त है। इसलिये ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था कि हे अर्जुन! तू तीन गुणों से परे हो जा। सब वृत्तियों के निरोध होने पर अर्थात् सत्व, रज, तम के अवसान होने पर आत्म-साक्षात्कार की स्थिति प्राप्त होती है। यथा—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

तब दृष्टि को (परमात्मा) स्वरूप में अव-स्थिति होती है। अब प्रश्न यह है कि इन तीन गुणों से परे कैसे हों? इस विषय में हमारे शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि युक्त-आहार, विहार, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार द्वारा सात्विकता बढ़ जाती है और सात्विकता की पराकाष्ठा वैराग्य उत्पन्न करती है। वैराग्य से सात्विक वृत्ति से भी आसक्ति छूट जाती है, तब चित्त स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवाह अन्तर्मुख हो जाता है। गुरु प्रदत्त मन्त्र के अभ्यास द्वारा पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है। यथा—

अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः।

चित्त की राजस-तामस वृत्तियां अनादि काल से एकाग्रता की विरोधी हैं, जन्म-जन्मा-न्तरों के संस्कार, इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्ति थोड़े ही समय में (अन्तर्मुख होकर) संस्कारों के बीज नष्ट करना कठिन है। योग के अधि-कारी एक जैसे नहीं होते। जिन्होंने पूर्व जन्मों

में अभ्यास के संस्कारों को दृढ़ कर लिया है, उन्हें शीघ्र समाधि लाभ होता है, अन्य जनों को शीघ्र समाधि लाभ नहीं होता। उन्हें निराश होकर अभ्यास नहीं त्यागना चाहिये। धैर्य के साथ पूर्ण विश्वास, श्रद्धा और उत्साह पूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। यह प्रयत्न गुरु चरणों में श्रद्धा, विश्वास रखकर, बताई हुई धारणा से प्रारम्भ करना चाहिये। धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग साधना है।

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" अर्थात् चित्त का वृत्तिमात्र से किसी एक स्थान विशेष में बांधना धारणा कहलाता है, चित्त वृत्ति किस स्थान पर बांधी जाय, कुण्डलनी से लेकर सहस्रार चक्र तक किसी भी षट् चक्र में बांधी जाती है यह शास्त्रीय विधान है परन्तु उक्त स्थानों का चयन गुरु द्वारा ही निर्दिष्ट उचित है।

जब देर तक एक स्थान पर चित्त ठहरा रहे, तब वही ध्यानावस्था कहलायेगी, और जब वही ध्यान इतना सूक्ष्म तन्मयता के साथ हो जाय कि ध्यान करने वाला ध्येय विषय के अतिरिक्त और (सांसारिक) कुछ भी सुध-बुध न रहे, तब वही ध्यान की अवस्था समाधि कहलायेगी। धारणा, ध्यान, समाधि एक विषय में होना योग शास्त्र की परिभाषा में संयम कहलाता है। संयम के आधार पर साधारण मनुष्य भी आश्चर्यजनक कार्य करते हैं जिनको समझने समझाने में बुद्धि चकरा जाती है जैसे कई साधुओं के विषय में कहा जाता है कि वे बिना टिकट ही यात्रा करते हैं मांगने पर बहुत से टिकट दिखा देते हैं अथोरी मांस खाते हुये दृष्टिगोचर होने पर और ही कुछ दिखा देते हैं, मैसमेरिज्म आदि में एक प्रकार का संयम ही है, ये सभी प्रकार के चमत्कारिक कार्य संयम का दुरुपयोग है क्योंकि साधक का मुख्योद्देश्य परमात्मा-प्राप्ति है न कि सांसारिक ऐश्वर्य, सम्मानादि, जो थोड़े से संयम द्वारा इन चक्करों में फंस जाता है। वह अधोगति को प्राप्त होता है, ऐसा शास्त्रीय उल्लेख है।

संयम द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि की सभी अवस्थायें पार करके असम्प्रज्ञात समाधि तक विराम न करने पर परमात्मा और आत्मा का मेल हो जाता है इसी साम्यावस्था को मोक्ष कहते हैं।

अतः प्रत्येक कल्याणार्थी को पूर्ण विश्वास, श्रद्धा सहित योग मार्ग पर चलकर जीवन सफल बनाना चाहिए।

चिन्ता ताकी कीजिए, जो अनहोनी होइ।
यह मारगु संसार को, नानक थिर नहि कोइ॥

मन की आँखें खोल बाबा

[एक साधक]

परमात्मा यद्यपि सर्वज्ञ है तथापि उनका साक्षात्कार के लिए साधक को अपने हृदयाकाश में विद्यमान देव की ही उपासना करने का आदेश श्रुति में मिलता है। उस परमात्म-देव का दर्शन इन चर्म चक्षुओं से नहीं किया जा सकता। अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र से दिव्य रूप को दर्शाने की प्रार्थना की। भगवान ने उत्तर दिया—

'न तु मां शक्यसे
द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुसा।
दिव्यं ददामि ते चक्षु
पश्य मे योगमैश्वरम्।

हे अर्जुन तू इन स्थूल चक्षुओं से इस दिव्यरूप को नहीं देख सकता। मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ। मेरे योगैश्वर्य को देख। इसे ही दिव्य दृष्टि दिव्य चक्षु, ज्ञान चक्षु, मन की आँखें इत्यादि नामों से पुकारा जाता है।

दृश्यमान स्थूल जगत् में किसी वस्तु का पुस्तकादि को देखने के लिए ही हमें चक्षु-इन्द्रिय, पुस्तक, प्रकाश तथा मन की आवश्यकता होती है। चक्षुइन्द्रिय से तात्पर्य गोलक तथा दर्शन शक्ति दोनों से है। इन चार वस्तुओं में से एक के भी अभाव में हमें वस्तु का दर्शन नहीं हो सकता। इनमें से महत्वपूर्ण मन है। प्रकाश, वस्तु, इन्द्रिय के संयोग होने पर भी मन के संयोगाभाव में सामने उपस्थित वस्तु को आँखें खुली होने पर भी हम नहीं देख पाते।

अब प्रश्न उठता है कि मन में जो देखने की शक्ति है वह क्या उसकी अपनी शक्ति है? नहीं। उसे यह देखने की शक्ति बुद्धि से मिलती है और बुद्धि को भी यह शक्ति आत्मा से प्राप्त होती है। यही पुरुष की शक्ति बुद्धि को बुद्धि से मन को तथा इन्द्रियों को होती है। चक्षु गोलक में देखने की शक्ति नहीं होती है यदि शक्ति होती तो चक्षु गोलकों के ठीक होने पर भी दिखाई नहीं देता ऐसा नहीं होता। चक्षु इन्द्रिय में जो आत्मशक्ति है वह प्राण के द्वारा चक्षु इन्द्रियों को प्राप्त होती है। कदाचित् प्राण का संपर्क चक्षुइन्द्रियों से न हो तो आँख गोलकों के ठीक होने पर भी देखने में समर्थ नहीं होती है। परन्तु कभी न देखने में गोलक भी कारण होते हैं। आँख पर चोट लगने से या मोतियाबिन्द के हो जाने पर भी दिखाई नहीं देता है।

जाग्रत अवस्था में हमें पुस्तक को देखने के लिए चक्षु पुस्तक प्रकाश तथा मन की आवश्यकता पड़ी तभी हम पुस्तक देख पाये।

परन्तु जब हम स्वप्न अवस्था में होते हैं तो इन्द्रियों के व्यापार शून्य होने पर भी तथा आधिदैविक प्रकाश के न होने पर भी बहुत कुछ देखते हैं। हम स्वप्न में नदी, पर्वत, सड़कें, नगर, हमारा चारों तरफ का संसार देख लेते हैं। यह संसार कहाँ से बना तथा हमें कैसे दिखाई दे रहा है? श्रुतियों में सुस्पष्ट निरूपण किया गया है। स्वप्न में जो संसार है वह अपनी शक्ति से जीव अपनी वासनानुसार निर्मित कर लेता है। मन इस अवस्था में कार्य करता रहता है। अन्य इन्द्रियाँ व्यापार रहित हो मन में विलीन रहती हैं। इस अवस्था का जो द्रष्टा है वह आत्मा ही है जिस प्रकार जाग्रत में द्रष्टा आत्मा ही होता है। परन्तु अज्ञान के कारण मनुष्य इस दृश्य के मूल स्रोत को नहीं समझ पाता। वह आत्मतत्व इन चक्षुरादि इन्द्रियों से क्यों नहीं अनुभूत होता है इसका एक कारण है जो कठोपनिषद के निम्न मन्त्र से स्पष्ट होता है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः,
तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्,
आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

अर्थात् स्वयम्भू ने इन्द्रियों को बहिर्मुख हिंसित कर दिया है। इसलिए जीव स्वभाव से बाह्य विषयों को देखता है अन्तरात्मा को नहीं। अमृतत्व की इच्छा वाला कोई धीर पुरुष ही सम्पूर्ण इन्द्रियों को अन्तर्मुख होकर ही उस प्रत्यगात्मा को देख पाता है। उस आत्म तत्व का ज्ञान सम्पादन के लिए साधक को सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तथा बुद्धि सहित प्रत्यगा-भिमुख हो उसे जानने का प्रयास करना होता है। इस अन्तःकरण में प्रकाश उसी का होता। परन्तु मन बुद्धि में सत्व, रज, तम त्रिगुण का तिरस्कार लगा होने से हम आत्मा को यथार्थ-स्वरूप को नहीं जान पाते। मन-बुद्धि से जहाँ जब यह मलावरण दूर कर दिया जाता है तो प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार होता है। परन्तु आत्मा का द्रष्टा कौन होगा? जैसा कि कहा भी गया है—

विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्।

अर्थात् उस विज्ञाता को किस साधन से जाना जायगा। क्योंकि वह सबका जानने वाला है इसलिए उसे कोई नहीं जान सकता

यतो वाचा निवर्तन्ते
अप्राप्य मनसा सह।
नैव वाचा न मनसा
प्राप्तुम् शक्यो न चक्षुषा॥

इत्यादि श्रुति वाक्यों से आत्मा के इन्द्रिय ग्राह्यत्व का निषेध किया गया है। परन्तु श्रुतियों में ही विधिमुख का प्रतिपादन मिलता है जिसके अनुसार त्रिगुण रहित विशुद्ध बुद्धि से आत्मा को चेतनता से ही उस आत्मा को जाना जाता है।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या
सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः ।
धातुप्रसादान्महिमानम्
आत्मनः पश्यति ।।

अर्थात् आत्मा को अग्र्य तथा सूक्ष्मबुद्धि से सूक्ष्मदर्शी साधक के द्वारा देखा जाता है। धातु अर्थात् सूक्ष्म बुद्धि के प्रसाद से आत्मा की महिमा को देखता है। अन्यत्र भी—

'मनसैवेदमाप्तव्यम्, मनसैवानुद्रष्टव्यः ।'

इत्यादि मन्त्रांश इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। इन स्थलों पर आया मन का तात्पर्य सूक्ष्मदर्शी से ही है। सांख्यदर्शन के अनुसार भी बुद्धि वाले द्वारा अपने अज्ञान को हटाती है। बुद्धि के आठ भाव—'धर्माधर्म ज्ञानाज्ञान ऐश्वर्यानैश्वर्य तथा वैराग्यावैराग्य' हैं। इनमें से बुद्धि अपने सात भावों से स्वयं अपने को बाँधती है तथा ज्ञानरूपी जो भाव है उससे सातों भावों से छूट कर ज्ञान में स्थित होती है। इस ज्ञान की पराकाष्ठा में विवेक ख्याति या ऋतम्भरा प्रज्ञा नामक बुद्धि उदित होती है। इस ऋतम्भरा प्रज्ञा को ही हम 'मन की आँखें' कह सकते हैं। इसी बुद्धि से पुरुष तथा प्रकृति का अलग-अलग ज्ञान होता है।

सर्वसमर्थ गुरुदेव यदि चाहें तो साधक के मलावरण को क्षण भर में नष्ट कर सकते हैं। तथा साधक को आत्म-दर्शन करा सकते हैं। परन्तु आत्म-स्थिति में स्थित रहना साधक के पुरुषार्थ पर निर्भर है। हमारे आराध्यदेव श्री अर्जुनी के जीवन-चरित्र में ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

हम सभी जानते हैं कि संजय ने हस्तिनापुर में बैठे-बैठे ही भगवान व्यास की कृपा से सम्पूर्ण कुरुक्षेत्र युद्ध को देख लिया था। भगवान व्यास ने उनके अज्ञानावरण हटा दिया तथा दिव्य चक्षु प्रदान किये। अध्यात्म विज्ञान कितना उत्कृष्ट है साधारण व्यक्ति भी इसे समझ सकता है।

मलावरण आदि दोषोंको दूर करनेके लिए उपनिषदों में तथा यौगिक ग्रन्थों में प्राणतत्व पर बहुत अधिक बल दिया है। ऐसा वचन में आया है कि दोषों तथा पापों को दूर करने के लिए प्राणायाम करना चाहिए। मनुस्मृति में भी प्राणायाम का विधान बताया है।

प्राणतत्व को इतना महत्व क्यों दिया गया, 'बृहदारण्यक' में आये एक आख्यान से स्पष्ट होता है। इस कथा के अनुसार देवताओं ने वागादि इन्द्रियों से अपने लिए उद्गान करने को कहा जिससे वह असुरों पर विजय पा सकें। वाक्, चक्षु, श्रोत्र तथा मन इन सब ने उद्गान किया परन्तु जो श्रेष्ठ भाग था अपने लिए रखा। अन्य भाग देवों को दिया इस पक्षपात के फलस्वरूप इन चारों को असुरों ने पाप से बींध दिया। आज भी हम देखते हैं कि यह चारों अनात्म वस्तु ग्रहण में तत्पर रहती हैं। प्राण ने अन्त में उद्गान किया। परन्तु इन्होंने पक्षपात नहीं किया फलतः असुर इसे पाप से न बींध सके। इसलिए समस्त इन्द्रियों में प्राण ही पाप रहित रहा इसलिए इसकी श्रेष्ठता सिद्ध है।

इसलिए विवेकी वही जो अपने आत्मचक्षु खोल लेता है। आत्म-लाभ के समान कोई लाभ नहीं तथा आत्म-ज्ञान हानि के समान कोई दूसरा विनाश नहीं।

आस्तिकवाद और नास्तिकवाद

श्री के० डी० उपाध्याय

आज के युग में अपनी परम्पराओं से अपरिचित, अंग्रेजी पढ़े युवावर्ग अपने पूर्वजों द्वारा प्रचलित मान्यताओं के प्रति उपेक्षा का व्यवहार करते हैं। वे ईश्वरवाद, योग-साधना, पूजा-पाठ इत्यादि को अशिक्षितों या कम पढ़े-लिखे लोगों का काम समझकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं। कुछ तो इसे कुछ पंडों और पुरोहितों का व्यवसाय समझकर इससे दूर रहने में अपना कल्याण समझते हैं।

कुछ लोग, जब इन्हीं चर्चाओं पर विदेशी भाषाओं की मुहर लगाकर प्रकाशित होती हैं तब चौकन्ने हो जाते हैं और थोड़ा-सा अनुराग दिखाते हैं। अब समय आ गया है, जब कि गहराई के साथ इस पर विचार करना पड़ेगा।

महापण्डित चाणक्य ने अपने नीति-शास्त्र में लिखा है कि आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन क्रियाओं में मनुष्य तथा पशु में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर है तो सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य अपने स्वप्नों में जीता है। वह वर्तमान को नहीं भोगता वरन् भविष्य के ताने-बाने बुनता है। कल ऐसा करूँगा। परसों वैसा करूँगा। आज उसके पास भोग के जितने भी साधन उपलब्ध हैं, उनमें उसकी रुचि नहीं है। कल क्या करेगा इसी का स्वप्न देखता है। चाहे वह आस्तिक हो या नास्तिक।

नास्तिक वस्तुवाद का पुजारी है और अधिक से अधिक वस्तुओं को इकट्ठा करने का स्वप्न देखा करता है। आज एक कारखाना है तो कल दो करने हैं। इस उधेड़बुन में उसे तरह-तरह के उपाय अवलम्बन करने पड़ते हैं। किसी के पैर चूमते हैं तो किसी की गर्दन पकड़ते हैं। किसे धोखा देना है तो किससे झूठे वादे करने हैं। किसे सम्मानित करना है तो किसका अपमान करना है। इन सबके कारण उसका जीवन हमेशा तनावपूर्ण रहता है और तनावपूर्ण जीवन जीने से शरीर के यन्त्रों में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है, वे अपना काम सुचारु रूप से नहीं कर पाते हैं। धमनियों में खून का बहना तथा खाद्य पदार्थों के समुचित वितरण की सामान्यता नष्ट हो जाती है। फलतः शरीर रोगी हो जाता है और जिन भोगों को भोगने की कामना से उसने वे सारे कर्म किये, वे भोग उसके सामने खड़े होकर उसकी हँसी उड़ाते हैं। क्योंकि रोगी व्यक्ति भोगी भी नहीं बन सकता।

इसके विपरीत आस्तिक स्वर्ग, ईश्वर या मुक्ति का स्वप्न देखता है। वह सोचता है कि मैं अच्छे कर्म करूँ और स्वर्ग के भोगों को भोगूँगा। मैं पाप नहीं करूँगा, असत्य भाषण नहीं करूँगा, किसी को कष्ट नहीं दूँगा,

ईश्वर सब देखता है। संसार के भोगों के प्रति नहीं दौड़ूंगा, ये तो होते ही हैं और होंगे ही। मुझे यह पता नहीं कि इन सब कर्मों से उसे स्वर्ग या ईश्वर की प्राप्ति होती है या नहीं। पर यह तो सच है कि उसे तनावपूर्ण जीवन से मुक्ति मिल जाती है और तनावपूर्ण जीवन जीने का जो दुष्फल होता है, उससे वह बच जाता है। यह भी प्रत्यक्ष लाभ देखने में ही आता है।

अतः एक आस्तिक का जीवन एक वस्तुवादी नास्तिक के जीवन से काफी खुशहाल रहता है।

जीवन अगर स्वप्नमय ही है तो इस प्रकार का स्वप्न ही सबसे उत्तम है, जिसमें किसी को हानि पहुँचाये बिना अपने स्वप्नों को साकार रूप दिया जाय। मन ही मन अगर लड्डू खाना हो उसे समझकर उसका लुत्फ न लिया जाय तो इसमें हानि ही क्या है? उर्दू के महान शायर मिर्जा गालिब ने लिखा है कि—

हमको मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन,
दिल को खुश रखने को गालिब ये ख्याल अच्छा है।

सारी दुनिया तो भिन्न-भिन्न माध्यमों से दिल ही को तो बहला रही है और इस दिल को बहलाने की होड़ में आज संसार किधर जा रहा है, यह किससे छिपा है? इस पर भी समाज के बुद्धिजीवी पुरुषार्थ सामने न आवें तो यह नादानी किस की है?

ऐसी परिस्थिति में धार्मिक भावनाओं का प्रचार, योगका प्रचार आस्तिकवाद का प्रचार मानव-कल्याण का एकमात्र पथ है।

आज जितने सारे रोग संसार में देखने को आते हैं उन सबका कारण तनावपूर्ण जीवन है, उपचार करने के लिये आज का विज्ञान प्रति-मिलान लेकर खड़ा है। जिस दिन इसका भी असर प्राणीमात्र पर से समाप्त होने लगेगा, उस दिन चिकित्सा जगत में हाहाकार मच जायेगा। अभी से समाज के तथा विश्व के बुद्धिमान व्यक्ति इस चिन्ता में पड़े हैं।

ऐसी हालत में भारत के साधु-संत, ऋषिगण जिन्होंने मानव-कल्याण के लिए तरह-तरह के कष्टों को सहकर नये-नये आविष्कार किये हैं उनके प्रति हमारी उपेक्षा क्या उचित है? गोपालसिंह नेपाली की एक कविता याद पड़ती है—

सूख रही है बोटी-बोटी,
मिलती नहीं घास की रोटी।
गढ़ते हैं इतिहास देश का,
सहकर कठिन क्षुधा की मार॥
नमन उन्हें मेरा शतबार।

रामधारीसिंह दिनकर के शब्दों में अगर कहा जाय तो—

करना क्या अपमान ठीक है,
इस अनमोल रतन का।
मानवता के इस विभूति का,
धरती के इस धन का॥

अतः इस प्रकार के तपस्वियों, साधकों तथा योगियों का जिन्होंने अपने जीवन को

(शेष पृष्ठ ८० पर पढ़ें)

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

अश्वः शस्त्रं शास्त्रञ्च वीणा-वाणी नरश्च नारी च ।
पुरुष विशेषं प्राप्ता भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥

—पंचतंत्र

भावार्थ—अश्व, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, स्त्री और पुरुष योग्य व्यक्ति के पास रहने से योग्य और अयोग्य व्यक्ति के पास जाने से अयोग्य हो जाते हैं।

× × × × ×

जन्म-जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः ।
तेनैवाभ्यास योगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥

—छान्दोग्य उप०

भावार्थ—जन्म-जन्मान्तरों में जो दान, तप या अध्ययन किया गया है, अत्यन्त अभ्यास के कारण जीव अपने दूसरे जन्म में भी उन्हीं के अनुरूप वृत्तियों को प्राप्त होता है।

× × × × ×

यं यं वापि स्मरन भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ॥

—गीता

भावार्थ—मनुष्य जिस जिस भाव को स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर का त्याग करता है, हे अर्जुन दूसरे जन्म में भी उसी भावना से भावित होने के कारण उस उस भाव को प्राप्त होता है।

× × × × ×

कर्मणायोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे ।
अभ्यस्ताः पूर्वं देहे ये तानेव भजते गुणान् ॥

—सुश्रुत

भावार्थ—जिस कर्म के कारण जीव पुनर्जन्म में प्रेरित होता है, उसी के अनुसार उस जन्म में सब कुछ प्राप्त करता है। और पूर्व जन्म के अभ्यास से उसे इस दूसरे जन्म में भी अभ्यस्त सभी गुण प्राप्त हो जाते हैं।

× × × × ×

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
—गीता

भावार्थ—कोई क्षण भर भी कर्म किये बगैर नहीं रह सकता। सभी प्रकृति के गुणों से विवश होकर कर्म करते ही हैं।

× × × × ×

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
—गीता

हर प्रकार के कर्म प्रकृति के गुणों से होते हैं। परन्तु अहङ्कार से मोह ग्रस्त मनुष्य कर्ता मैं हूँ, ऐसा मानता है।

× × × × ×

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
—कठ० १/२/६

धन के मोह से मूढ़ प्रमादपूर्ण विवेकहीन पुरुष को परलोक की बात अच्छी नहीं लगती। यह लोक है, परलोक नहीं है—ऐसा समझने वाले लोग बार-बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

× × × × ×

मनः पश्य भवत्यक्षि शृण्वच्छ्रवणतां गतम्।
त्वग्भावं स्पर्शनादेति घ्राणतामेति जिघ्रणात्॥
३/११०/२०-२१

देखो मन आँख बनकर रूप ग्रहण करता है अथवा रूप का आकार धारण करता है, सुनते समय श्रोत्र रूप से शब्दाकार धारण करता है। स्पर्श इन्द्रिय स्पर्श पदार्थ का रूप ले लेती है तथा घ्राण इन्द्रिय-गन्ध तद्रूपाकार हो जाती है।

भाव हिंसा

❀ उपाध्याय श्री अमरमुनि

किसी को मारना और जिलाना हमारे हाथ में नहीं है। किन्तु, एक बात हमारे हाथमें जरूर है और वह है न मारने का सङ्कल्प करना, न जिलाने का सङ्कल्प करना। हिंसा और अहिंसा की धारा इसी जल में फूटती है। हमारे मन में जब किसी को मारने का सङ्कल्प उठता है, किसी को त्रास और कष्ट देने की भावना जगती है तब हिंसा की ज्वालाएं दहकने लगती हैं। किसी की हिंसा हो या न हो, पर मन की दूषित भावना के कारण हम हिंसक हो गये, हिंसा कर चुके। और जब किसी प्राणी को दया और करुणा से प्रेरित होकर जिलाने का सङ्कल्प जगता है, उसके लिए सुख, शांति की भावना हमारे हृदय में प्रस्फुटित होती है, तभी से अहिंसा का दिव्यभाव हमारे में हृदय में अवतरित है। भले ही हमारे प्रयत्नों से एक भी प्राणी न बच सका हो, किन्तु हमारी आत्मज्योति तो जागृत हो गई। हमारी करुणा ही हमारी अहिंसा है। किसी को नहीं मारने का सङ्कल्प अहिंसा का एक पक्ष है। इसके दूसरे पक्ष को जब तक नहीं समझेंगे, तब तक अहिंसा की साधना पूर्ण नहीं होगी। यदि नहीं मारना ही अहिंसा की पूर्णता होती, तो वीतराग पुरुषों ने करुणा और दया जैसे शब्दों का आविष्कार नहीं किया होता ? जब दया और करुणा जैसे शब्द हमारे शास्त्र में लिये गये हैं, तो उनका कोई अर्थ भी अवश्य है और वह अर्थ यही है कि प्राणिमात्र की मधुर भावनाएं हमारे हृदय को सदा पवित्र और शांत बनाये रखें।

इसका अर्थ यह हुआ कि हमने अहिंसा को वस्तुनिष्ठ नहीं, भावनिष्ठ माना है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब आत्मा में किसी के प्रति द्वेष जगा तो हिंसा हो गई तथा तथा किसी भी रूप में असत्य का सङ्कल्प, चोरी का सङ्कल्प और व्यभिचार का प्रादुर्भाव आया, उसी प्रकार कभी मन में मान, माया और लोभ की भावनाएं जगीं, तो जीवन को अपवित्र बना देती हैं। इसे ही भावहिंसा कहते हैं।

भाव- हिंसा से सर्वप्रथम हिंसक का ही

(पृष्ठ ७३ का शेष)

चिन्ता न करके मानवता के कल्याण के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, कन्दराओं में भूखे रहकर खोज की, वेद, वेदान्त तथा योग-शास्त्रों की रचना करके मानव-कल्याण में ही लगे रहे। उनकी बातों को समझें और उन्हें समुचित आदर देकर उनके आदर्शों को अपने जीवन में उतारें तभी अपना तथा मानव मात्र का कल्याण हो सकता है।

—दुर्गापुर, प० बंगाल]

नाश होता है। यदि किसी के मन में क्रोध आया और ज्यों ही क्रोध ने उसे इस प्रकार दबाया कि मन में आग लग गई और उसने किसी का सर्वनाश करने का विचार कर लिया। बस जिस समय यह भाव आया कि हिंसा हो गई। दूसरे को मारना या पीड़ा पहुँचाना, किसी के लिए हर समय संभव नहीं होता यदि कोई दुर्बल होगा तो उसके सामने अपनी शक्ति का उपयोग कर सकता है। यदि वह उससे अधिक शक्तिशाली है, तब तो वह स्वयं जल-भुन कर रह जायेगा और अपने प्रतिद्वन्द्वी का कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेगा। इस तरह बाहर से हिंसा करता है अथवा करता है, किन्तु खुद तो अन्दर ही अन्दर जलते रहता है।

कुछ बच्चे एक बच्चे को चिढ़ाते हैं और गन्दा कहकर उसका मजाक करते हैं। वह खिसियाकर कहता है—मैं गन्दा हूँ ? अच्छा गन्दा ही सही। वह अब अपने हाथ में कीचड़ लेता है और दूसरे बच्चों पर उछालने के लिए उनके पीछे दौड़ता है। बच्चे तेजी से भाग जाते हैं, वह उन पर कीचड़ नहीं उछाल पाता है। यदि उछाल भी देता है, तो दूसरों पर कीचड़ पड़े न पड़े, परन्तु उसका हाथ तो कीचड़ से भर गया। यदि कीचड़ उछालने वाला तेज दौड़ता है और दूसरों पर डाल देता है, तब भी उसका हाथ तो कीचड़ से भरेगा ही। यदि दूसरे बालक तेज हैं और उन पर कीचड़ नहीं गिरा, तो वह अपना गन्दा हाथ लिए मन ही मन जलता है। इस प्रकार दूसरों पर कीचड़ चाहे पड़े या न पड़े, किन्तु उछालने वाला तो हर हालत में गन्दा हो जाता है।

शास्त्रकार यही बात आत्माओं के विषय में कहते हैं। अविवेकी जीव प्रायः बच्चों जैसा खेल खेला करता है वह अपने मन में दूसरों के प्रति बुरे भाव, बुरे संकल्प पैदा करता है और उनके कारण अपने अन्दर मैल भर लेता है—अपने अन्तःकरण को मलिन बना लेता है, आत्मगुणों की हत्या कर लेता है। क्रोध आया, तो क्षमा की हत्या हो गयी, अभिमान आया, तो नम्रता का नाश हो गया, माया आयी, सरलता का संहार हो हो गया। और यदि लोभ आया, तो सन्तोष का गला घुट गया। असत्य का संकल्प आया, तो सत्य की सुगन्ध समाप्त हो गयी। इस प्रकार जो भी बुराई आत्मा में पनपती है वह एक न एक सद्गुण को कुचल डालती है।

भाव-हिंसा आत्मा के गुणों की हिंसा कर डालती है। ☼

कुछ खाता कुछ खेलता, कुछ सोवत दिन जाइ।
कुछ विषया रस बिलसतां, दादू गये बिलाइ॥

मानव-कल्याण के प्रतीक:—

स्वामी प्रणवानन्द जी

☙ श्री केशव उपाध्याय, वाराणसी

युग पुरुष योगेश्वर, अखिल ब्रह्माण्ड नायक, अपने दादा गुरुदेव श्री महाप्रभु जी तथा आशीर्वाद के दाता विधाता, अकारण दयालु श्री सद्गुरुदेव भगवान की कृपा से उपरोक्त महापुरुष की जीवनी तथा उससे सम्बन्धित कुछ योग चमत्कारिक घटनाओं का संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जा रहा है।

आजादी के पूर्व बंगलादेश भारत का ही एक हिस्सा था और तब इसे पूर्वी बंगाल कहते थे। इसी पूर्वी बंगाल के फरीदपुर जिले के बाजितपुर गाँव में एक गृहस्थ रहते थे, विष्णुचरण दास उर्फ विष्णु भइया। एक बार विष्णु भइया कठिनतम विपत्तियों में फँस गये। इन कठिनतम कष्टमय कठिनताओं से दुःखी विष्णु भइया ने अपने इष्टदेव श्री महादेव जी के चरणों में दुःखी मन से मुक्ति की प्रार्थना की। आराध्यदेव ने प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया कि, "पुत्र रूप में मैं तुम्हारे कष्टों को दूर करूँगा।"

आश्चर्य कि उनकी पत्नी श्रीमती शारदा देवी ने उसी रात स्वप्न देखा कि साक्षात् भगवान शङ्कर पुत्र रूप में उनकी अङ्क में शयन कर रहे हैं और इस घटना के ठीक नौ मास बाद २९ जनवरी १८९६ को बुधवार के दिन उनके यहाँ एक तेजस्वी बालक उत्पन्न हुआ। बुधवार को जन्म लेने के कारण घर वाले उसे 'बुध' नाम से ही पुकारने लगे। श्रीविष्णु भइया के सारे कष्ट उस बालक के जन्मते ही दूर हो गये अतः उन्होंने उस बालक का नाम जगन्नाथ रखा। बाद में नामकरण के अवसर पर बालक का नाम 'विनोद' रखा गया।

विनोद नाम का यह तेजस्वी बालक ही कालान्तर में स्वामी प्रणवानन्द के नाम से विख्यात हुआ, जिन्होंने अपने महानतम अलौकिक ज्ञान एवं अद्भुत सिद्धियों से विश्व को चमत्कृत किया है।

स्वामी प्रणवानन्द ऐसे युग में अवतरित हुये थे जब विश्व में अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के बीच भयंकर युद्ध चल रहा था, पूरे विश्व में छली, कपटी, धूर्त लोग भोली-भाली जनता को गुमराह कर रहे थे। ऐसे में स्वामी प्रणवानन्द ने पर्वत, गुफाओं या जंगलों में न जाकर जनता के बीच रहकर ही आर्य संस्कृति का प्रचार प्रसार व आध्यात्मिक अलख जगाने का निर्णय लिया। वे अपने संन्यासी शिष्यों

वे कहा करते थे, 'जिसको ईश्वर ने जिस स्थान पर रखा है वह उसी स्थान को हिमालय का गुहा-गह्वर समझो, संकलित मन ही साधक की निर्जन गुहा है।

अपने बाल्यकाल में विनोद (स्वामी प्रणवानन्द) केवल संयमी थे। यही कारण था कि उनके अन्दर आत्म-शक्ति का अपार भण्डार था। बालक विनोद बचपन में अपने बंगाली भोजन से (मांस-मछली का) सतत परहेज करता था, इसलिये उसके माँ बाप सोचते रहते थे कि नमक-भात और आलू-भात खाने वाला उनका यह पुत्र शारीरिक रूप से काफी क्षीण होगा, परन्तु किशोरावस्था में ही विनोद की गठी देह व व्यायाम देखकर माँ बाप की यह भ्रान्ति शीघ्र ही दूर हो गई। एक बार इनके क्षेत्र के एक उद्दण्ड मुस्लिम सरदार ने इनके सजातीय लोगों को गालियाँ दे दीं तो विनोद ने उसके पैर पकड़कर इतनी दूर फेंका कि उस सरदार ने तो इनसे तोबा ही करली।

सन् १९१३ में बालक विनोद ने गोरखपुर मठ के तत्कालीन अध्यक्ष एवं नाथ सम्प्रदाय के गुरु महात्मा बाबा गंभीरनाथ जी से दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के बाद से वे अन्तर्मुखी रहने लगे और फिर बाबा जी की आज्ञा से काशी स्थित असीघाट में रहने लगे।

असीघाट में विनोद अर्धमग्नावस्था में रहा करते थे। उस वक्त उनके भोजनादि की व्यवस्था स्वयं गुरुदेव ही अपने अलौकिक रूप से किया करते थे। यह बात बाद में स्वयं प्रणवानन्द जी ने स्वीकार की थी। अन्ततः १९१६ में माघी पूर्णिमा के दिन बालक विनोद को सिद्धि की प्राप्ति हुई।

जनवरी १९२४ में ब्रह्मचारी जी ने अर्द्ध-कुम्भ के अवसर पर गोविन्द गिरि नामक एक संन्यासी से गुरु-दीक्षा ली और आचार्य स्वामी प्रणवानन्द नाम की पदवी ग्रहण की।

धर्म-प्रचार के साथ-साथ वे चरित्र पर भी विशेष बल देते थे। अपने कर्मशील शरीर का त्याग स्वामीजी ने दिसम्बर १९४० में किया। निश्चय ही वे मनोबल और उत्तम चरित्र के आदर्श संन्यासी थे।

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥सांख्य १।९९॥

अन्तःकरण चैतन्य से प्रकाशित होता है, अतः जैसे लोहे के प्रदीप्त हो उठने का साधन अग्नि है, उसी प्रकार अन्तःकरण को चेतन करने वाला उसका अधिष्ठाता आत्मा है, और बुद्धि अन्तःकरण का ही एक भाग है। फलतः आत्मा का उस पर प्रभाव है। अतः आत्मा अपनी इच्छा-शक्ति के बल से बुद्धि के क्षेत्र का नियन्त्रण कर उसे रजोगुण के फन्दे में फँसने से बचा सकता है। और यह तब ही सम्भव है जब कि आत्मा ने अपनी इच्छा-शक्ति को इन प्राकृतिक शक्तियों के पीछे चल इन का अनुवर्ती न बना लिया हो।

तपोधन भगवान श्रीराम

आ. योगी श्री हृदयनारायण जी

अयोध्या की राजगद्दी पर बैठने के कुछ दिन बाद भगवान् राम ने एक बड़ी सभा बुलाई, जिसमें गुरु वशिष्ठ, अन्य ब्राह्मण तथा नगरवासी सम्मिलित हुए। उस सभा में श्री राम ने जो आदेश दिया, वह बड़े महत्व का है। तुलसीदास जी कहते हैं कि भक्तों के भय का नाश करने वाले भगवान् ने प्रजा को अपना सन्देश दिया। इस अवसर पर राम के साथ 'भगत-भय-भंजन' विशेषण जोड़ने का विशिष्ट कारण है। राम ने प्रजा को निर्भय करने के लिए यह समय चुना है। वन-गमन के अवसर पर उन्होंने अनुभव किया था कि सब प्रकार से सुखी, गुणवान और ज्ञानवान होते हुए भी प्रजाजन अपनी बात डर के मारे राजा से न कह सके। लोग समझते थे कि राजा एक बहुत बड़ी सत्ता है और वह जो भी कहे उसे स्वीकार कर लेना है। समस्त प्रजा एक स्वर से राम को राजा बनाना चाहती थी। लेकिन किसी को यह साहस नहीं था कि दशरथ से कहे कि राम को ही गद्दी मिलनी चाहिये। प्रजा के मन से इस भय को निकालना था। लेकिन अगर राम ने इसका प्रयास तब किया होता तो लोग कहते कि वनवास के भय से उन्होंने प्रजा को भड़काकर समाज में विपत्ति पैदा की और स्वयं राजा बन बैठे। राम ऐसा नहीं चाहते थे। राजनीति के विषय में अपने विचार प्रकट करने का यह उचित अवसर नहीं था।

श्रीराम के अनुसार राजा प्रजा का स्वामी नहीं है। वह प्रतीक मात्र है—इन्तजाम करने के लिए। राजनैतिक कारणों के अतिरिक्त वन-गमन के समय प्रजा को अभयदान अथवा निर्भयता की दीक्षा न देने का एक आध्यात्मिक कारण भी था। ऐसी दीक्षा के योग्य बनाने के लिए प्रजा से कुछ साधना कराना आवश्यक था—ऐसी साधना जो उन्हें सुख, समृद्धि, वैभव आदि के राग से मुक्त कर दे। संसारी व्यक्ति सुख और वैभव को पकड़ता है और उसे भय बना रहता है कि ये सब छिन न जायें। अपने को शरीर मानकर वह मृत्यु से भी डरता है। इन सभी भयों से मुक्त करने वाली साधना है तप।

इस साधना को भगवान् ने स्वयं भी अपने जीवन में अपनाकर दिखाया। उन्होंने शब्दों से नहीं, अपने जीवन से शिक्षा दी। कहना तो उपदेश मात्र रह जाता है। इससे कहीं अच्छा है कि हम अपने जीवन में कुछ अपनायें और उसे देखकर उत्साहित हों और स्वीकार करें। अर्थात् उपदेश करने से कहीं अच्छा है कि जीवन में सत्य को उतार कर दिखायें।

राम ने जंगल में चौदह वर्ष तपस्या की।

उन्होंने अयोग और सुमिरन की साधना अपनाई। इसी साधना को भरतजी की अध्यक्षता में सभी अयोध्यावासियों ने अपनाया और तब वे राम का सन्देश सुनने के अधिकारी बने और उनमें ग्रहणशीलता आई।

राम दरस लगि लोग सब,
करत नेम उपवास।
तजि तजि भूषन भोग सुख,
जिअत अवधि की आस॥

श्री राम की जंगल की साधना से कुछ और ऊँची ही, कुछ और विकट साधना भरत ने अयोध्या में की :—

राम लखन सिय कानन बसहीं।
भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू।
सब बिधि भरत सराहन जोगू॥
अवध राज सुरराज सिहाहीं।
दसरथ धन सुनि धनद लजाहीं॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा।
चंचरीक जिमि चंपक बागा॥

जिस प्रकार चम्पा के बाग में भौंरा जरा भी मोहित नहीं होता, इसी प्रकार उस अयोध्या के वैभव से जहाँ का राज पिता ने उन्हें दिया था, भरत तनिक भी आकर्षित नहीं हुए। उनकी तपस्या ऐसी है कि—

देखि दसा मुनिराज लजाहीं।
सम दम संयम नियम उपासा।
भरत लखत हिय बिमल अकासा॥

अब जानना है कि यह तपस्या क्यों और कैसे की जाती है। अन्न शरीर के स्तर पर से मल हटाने के लिए उपवास की साधना, अयोग, वितरण, सेवा अथवा भजन द्वारा मन से आसक्ति दूर करना और सुमिरन के द्वारा बुद्धि से भय मिटाना।

उपवास से शरीर में शक्ति का जागरण होता है। रोग और थकावट विदा हो जाते हैं। मन के स्तर पर आसक्ति मिटने से आनन्द का जागरण होता है।

भरतजी की संरक्षता में सभी अयोध्यावासियों ने चौदह वर्ष तक साधना की। वे ऐसा न करते तो भी राम लौटकर आते। लेकिन उन्होंने सोचा कि ऐसा न हो कि राम लौटकर आयें तो फिर कोई ऐसा उपद्रव खड़ा हो जाए कि वह फिर लौटकर जायें। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण कहते हैं—"वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छामि"—अर्थात् वृन्दावन को छोड़कर भगवान् एक पग भी बाहर नहीं जाते, तो राम अब अयोध्या छोड़कर न जायें। वैकुण्ठ जाने की बात भी न रहे। पार्वती जी ने शंकर से जो प्रश्न किये थे उनमें एक यह भी था—

बहुरि कहहु करुनायतन,
कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजा सहित रघुबंसमनि,
किमि गवने निज धाम॥

भगवान शिव ने इसका उत्तर नहीं दिया, जाने का प्रश्न तो वहाँ होता है जहाँ कोई जगह पसन्द न हो। अयोध्या में अब क्या कमी रह गई कि राम और उनकी प्रजा कहीं जायें?

❖ कर्मयोनि और भोगयोनियाँ ❖

✱ आचार्य श्री आशुतोष

हम क्यों कहते हैं कि केवल मनुष्य ही कर्म योनि है ? देवता, सिद्ध, यक्ष-राक्षस—ये सब कर्म करने में मनुष्य से कहीं अधिक समर्थ हैं। कहीं अधिक क्रियाशक्ति और बुद्धि उनमें है। कर्म तो क्षुद्र कीट तक करते हैं। ऐसी दशा में केवल मनुष्य ही कर्म योनि क्यों ?

१—पहले पृथ्वी के प्राणियों को लें। पृथ्वी में जो प्राणी हैं, उनका एक प्रकार का विभाजन है—१—ऊर्ध्वस्रोत, २—तिर्यक्स्रोत और ३—अधःस्रोत। वृक्षादि वनस्पति 'ऊर्ध्व-स्रोत' हैं। वे अपनी जड़ों से रस-ग्रहण करते हैं और वह रस ऊपर की ओर जाकर उन्हें पुष्ट करता है। प्रकृति में जो उत्थान पतन का (विकास का ही नहीं) चक्र घूम रहा है, इसमें वे विकासोन्मुख हैं। प्रकृति उन्हें ऊपर ले जा रही है, यह उनका ऊर्ध्वस्रोत होना बतलाता है। पशु-पक्षी आदि सब 'तिर्यक्स्रोत' हैं जो आहार ग्रहण करते हैं, वह उनके शरीर में आड़े चलता है। प्रकृति इसके द्वारा सूचना देती है कि ये मध्यमावस्था में हैं। ये ऊपर भी जा सकते हैं और नीचे भी। ऊर्ध्वमुख गति और अधोमुख गति—दोनों में ही मध्यमावस्था आती है। केवल मनुष्य 'अधःस्रोत' प्राणी है। वह जो आहार मुख से ग्रहण करता है, वह नीचे की ओर जाता है। प्रकृति इस प्रकार सूचना देती है कि उसके राज्य में विकास की चरम सीमा यहाँ हो चुकी। यहाँ प्रयत्न करके यदि तुम जन्म-मरण से छूट नहीं जाते, प्रकृति के प्रशासन से परे नहीं पहुँच जाते तो प्रकृति अब तुम्हें नीचे ले जाने वाली है। जिसको स्वयं प्रयत्न करके प्रकृति के प्रशासन से परे होना है, वह 'कर्म योनि' का प्राणी तो हुआ ही।

२—पृथ्वी पर मनुष्य ही कर्म योनि का प्राणी है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मनुष्य का बच्चा सर्वथा अशिक्षित उत्पन्न होता है। उसे सब कुछ उत्पन्न होने के पश्चात् ही सीखना है। साथ ही सब कुछ सीखने की योग्यता, सब प्रकार से रह लेने की क्षमता उसे दी गयी है। यह बात पृथ्वी के दूसरे किसी भी प्राणी में नहीं है।

पशु-पक्षियों के ही नहीं, नन्हे कीटों तक के शिशु अपने जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक संस्कार माता के उदरसे लेकर उत्पन्न होते हैं। वे भोग योनि के प्राणी हैं, अतः अपनी योनि के भोगों को भोगने का आवश्यक ज्ञान उन्हें जन्म से ही प्राप्त होता है बन्दर के बच्चे को

वृक्ष पर चढ़ना या माता के पेट से शिशु के रहना सिखाना नहीं पड़ता। गाय के बछड़े तैरना कब सिखलाया नहीं जाता है? प्रत्येक पक्षी अपनी परम्परा के अनुसार ही घोंसला बनाना किससे सीखता है? बतख का शिशु अण्डे से निकलते ही तैरने लगता है। कबूतर और बुलबुल को आप बया पक्षी के साथ बरसों पालकर देख लीजिए। बया के समान सुदृढ़ कलापूर्ण घोंसला बनाना तो दूर, इन्हें कोई अटपटा बन्द घोंसला भी बनाना नहीं आयेगा। बुलबुल वही कटोरे जैसा घोंसला बनायेगी। ये पशु-पक्षी सिखलाने पर बहुत कुछ सीख लेते हैं, यह ठीक है, किन्तु उस शिक्षा को अपने काम में लेना इन्हें कदाचित् ही आता है। अपने शिक्षक के लिये कार्य न करना हो तो ये अपने पुराने ढंग पर लौटना ही पसंद करते हैं।

मनुष्य के बच्चे की अवस्था सर्वथा भिन्न है। वह कर्म योनि में आया है, अतः उसे कुछ भी सिखलाकर भेजा नहीं गया है। सब उसे यहीं सीखना है। लेकिन परिस्थिति के अनुसार रह लेने और सीख लेने की क्षमता उसे दी गयी है। मनुष्य जल में तैर सकता है, वृक्ष पर चढ़ सकता है, किन्तु कब? जब उसने ऐसा करना सीखा हो। अन्यथा मनुष्य जल में डूब जाता है। उसे वन के पशु भले मार डालें, किन्तु वृक्ष पर चढ़ना उसने नहीं सीखा है तो वह नहीं चढ़ता है। मनुष्य के बच्चे की कोई भाषा नहीं, कोई गृह-निर्माण पद्धति नहीं। जो भाषा सिखलायी जाय, उसे सीख लेगा। जैसा रहन-सहन सिखलाया जाय, वैसे रहने लगेगा।

भेड़ियों के द्वारा पाले गये मनुष्य के बच्चे मिले हैं। वे भेड़िये की माँद में रहते और हाथ पैरों से भेड़िये की भाँति चलते दौड़ते तथा कच्चा माँस खाने के अभ्यासी हो चुके थे। भेड़ियों के समान गुर्राना मात्र ही उन्हें आता था। एक उदाहरण हिरणों के द्वारा पाले गये बच्चे का भी पढ़ने को मिलता है। बतलाया गया है कि वह बच्चा मुख से घास चरता था और हिरणों की गति से छलांग लगाता दौड़ता था।

यह कर्म योनि के प्राणी की ही विशेषता है कि वह उस परिस्थिति के अनुसार अपने को बना सकता है। जो प्रारब्ध उसे देता है। किसी भोग के लिये आवश्यक ज्ञान एवं उपकरण देकर उसे प्रकृति नहीं भेजती, क्योंकि वह 'भोगयोनि' का प्राणी ही नहीं है।

३—अब देवतादि भोग योनि के उच्च प्राणियों को लें। बुद्धि उनमें मनुष्य से अधिक है, किन्तु उनको प्रकृति ने स्थूल-शरीर नहीं दिया है। धर्माधर्म की उत्पत्ति के लिये स्थूल देह ही आवश्यक नहीं है, यह भी आवश्यक है कि वह कर्म पृथ्वी पर किया जाय। दैत्यराज बलि ने बलपूर्वक स्वर्ग पर अधिकार कर

लिया, तब दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने उन्हें समझाया—'स्वर्ग पर इस प्रकार अधिकार स्थायी नहीं हो सकता। अधिकार तभी स्थायी होता है, जब उस अधिकार को प्राप्त करने का जो नियम है, उसे पालन किया जाय। अन्यथा सृष्टि का नियन्ता किसी न किसी प्रकार अनधिकारी को अनधिकार प्राप्त स्थान से च्युत कर ही देता है। स्वर्ग का स्वामित्व सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाले को मिले, यह नियम है। तुम यज्ञ करके यहाँ के नियमित अधीश्वर बन जाओ तो तुम्हें सृष्टि नियन्ता भी पदच्युत नहीं कर सकेगा।'

बलि को यज्ञ करने के लिये पृथ्वी पर आना पड़ा। उन्होंने नर्मदा के उत्तर तट पर अपनी यज्ञशाला बनाई, क्योंकि समस्त लोकों में सृष्टिकर्ता ने इस धरा को ही कर्मभूमि बनाया है। दूसरे सब लोक तो भोगभूमि हैं। धरा ही कर्मक्षेत्र है। इसी क्षेत्र में कर्म की खेती सम्भव है। यहाँ हुए शुभ या अशुभ कर्मों का भोग दूसरे लोकों में कर्ता को मिलता है, जैसे वृक्ष की जड़ पृथ्वी में ही रहती है, पृथ्वी के रस से ही वह बढ़ता फलता है। अब यह बात भिन्न है कि कुछ वनस्पति पृथ्वी पर फैलकर नहीं फलती हैं, कुछ के कन्द पृथ्वी के भीतर बनते हैं और कुछ के फल ऊपर आकाश में उनकी डालों में लगते हैं। कर्म का फल ऊपर नीचे या पृथ्वी पर, कहीं भी होता हो, कर्मरूपी वृक्ष के उगने-पोषण पाने का स्थान पृथ्वी ही है।

देवता, दैत्य या उपदेवता कर्म कर तो सकते हैं, किन्तु तभी कर सकते हैं, जब वे पृथ्वी पर आकर और मनुष्य रूप में व्यवहार कर्म करें। पृथ्वी पर आकर अपने दैव रूप में वे कुछ करें तो वह कर्म कोई पाप-पुण्य उत्पन्न नहीं करता। देवता पृथ्वी पर आकर किसी को वरदान दे जायँ या शाप, इससे उन्हें कोई पाप पुण्य नहीं होता। उनके अपने लोक तो भोग लोक ही हैं। वहाँ वे कोई शुभ कर्म करें तो वह पुण्य नहीं उत्पन्न करता। यही महर्लोक और जनलोक में जो ऋषि-मुनि रहते हैं, वे सत्संग में ही लगे रहते हैं। ऐन्द्रिक भोगों में उनकी रुचि नहीं है, किंतु उन लोकों का सत्संग, ज्ञान-ध्यान मोक्षप्रद नहीं पैदा करता। यदि कभी किसी को वहाँ ज्ञान होता भी है तो उसे होता है, जो धरा से ही उसका अधिकारी होकर आता है।

देवताओं को अनेक बार भगवान् शिव एवं भगवान् नारायण के दर्शन होते हैं। श्रीराम श्रीकृष्णादि जब पृथ्वी पर अवतार लेते हैं तो देवता उनका दर्शन करते हैं। अनेक बार उनकी सेवा भी करते हैं और उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में भी आते हैं, किन्तु इससे न उन्हें भक्ति मिलती और न उनकी मुक्ति होती है। वे तो जैसे के तैसे ही बने रह जाते हैं, जबकि पृथ्वी के पशु-पक्षी वृक्षादि तक भी उद्धार अध-

नारकाल में भगवान् के सम्पर्क में आने पर हो जाता है।

देवलोकादि 'भोगलोक' हैं। वहाँ जो देह प्राप्त होता है, वह 'भोगदेह' है। उसमें नवीन कर्म-संस्कार ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती उस देह में रहते अपवाद स्वरूप ही कदाचित् पृथ्वी पर आकर और स्थूलदेह लेकर कर्म करने की प्रवृत्ति जागती है, जैसे बलि में जागी। अन्यथा वहाँ भोगों में ही रुचि एवं प्रवृत्ति रहती है।

धरा कर्मभूमि है और यहाँ भी केवल मनुष्य योनि ही कर्म योनि है। देवता भी कर्म करना चाहें तो उन्हें धरा पर मनुष्य बनकर आना पड़ता है।

न हि मानुषात् परतरं हि किञ्चित्।

मनुष्य से श्रेष्ठ दूसरा कोई कहीं किसी लोक में नहीं है। लेकिन क्या द्विपाद प्राणी का नाम ही मनुष्य है?

मनुष्य योनि की कुछ विशेषताएँ हैं, जिन्हें यहाँ दे देना उत्तम होगा—

देवता तथा दूसरे पुण्य लोकों के सब प्राणी क्षयोन्मुख हैं। वे अपने पुण्यों का भोग करके उन्हें क्षीण कर रहे हैं। वे वहाँ से नीचे गिरने के मार्ग पर हैं। उनकी अवनति ही होने वाली है।

पशु-पक्षी और वृक्ष ही नहीं, नारकीय प्राणी भी ऊर्ध्वमुख हैं। वे प्रगति के मार्ग पर हैं। वे अपने पापों-अशुभ कर्मों को भोगकर क्षीण कर रहे हैं। वे विकासोन्मुख हैं। उनकी उन्नति ही होने वाली है।

मनुष्य कहाँ है—यह उसे स्वयं देखना है। वह जो कुछ करेगा, कर्म योनि का प्राणी होने के कारण उसको उसका फल भोगना है। वह शुभ कर्म करता है तो उत्थान के मार्ग पर है—देवताओं से भी श्रेष्ठ है। देवत्व ही नहीं, मोक्ष भी उसका प्राप्य बन सकता है। यदि अशुभ कर्म करता है तो वह पतन की ओर जा रहा है नरक और पशुत्व उसके भाग्य में है।

धर्म-बुद्धि ही मनुष्य की विशेषता है। धर्माधर्म को समझकर जो धर्म में लगे, वह मनुष्य है। जो केवल खाने-पीने तथा अन्य भोगों को जुटाने में लगा है, वह कितना भी बड़ा विद्वान्-बुद्धिमान् हो, वह 'द्विपाद पशु' ही है। वह तो पशुत्व से भी नीचे जा रहा है।

❁ लाभ कहा मानुष-तनु पाये ❁

काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये।
जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाये॥
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन समुझत नहिं समुझाये।
पर-दारा, पर-द्रोह, मोह-बस किये मूढ़ मन भाये॥

—सन्त तुलसीदास

सद्गुरु-महिमा

श्री भगवतीप्रसाद पन्त

सद्गुरु की महिमा अनन्त,
अनन्त कियो उपकार।
लोचन अनन्त उघाड़िया,
अनन्त दिखावण हार॥

ऐसे सद्गुरु का वर्णन नहीं किया जा सकता जिन्होंने पंच तत्वों से बना यह शरीर धारण किया है। उन पर दैहिक, दैविक, भौतिक ये तीनों ताप अपना प्रभाव नहीं दिखा पाते हैं। जिनकी शरण में आने के लिये देवता भी लालायित रहते हैं, ऐसे गुरुदेव को मैं अबोध बालक बार-बार प्रणाम करता हूँ। जिनकी महिमा को गाते-गाते कई युग बीत गये, लेकिन किसी ने भी पार नहीं पाया, तो मैं मन्दबुद्धि का बालक भला उनके गुणों का बखान कैसे कर सकता हूँ।

हे गुरुदेव! मुझे वह शक्ति दो जिससे मैं तुम्हारा पार पा सकूँ। बिना आपकी कृपा के मैं कैसे आपके गुणों का बखान कर सकता हूँ। आपका ज्ञान कल्पवृक्ष के समान फलदायिनी व सर्व मंगलकारणी होता है। जो इस चराचर जगत में कल्पवृक्ष बनकर साक्षात् शिव रूप में अवतरित हुए हैं। आपकी जिस पर थोड़ी-सी भी कृपादृष्टि हो जाती है उसे मायारूपी जाल में फँसना नहीं पड़ता और मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। धन्य है ऐसे गुरुदेव को!

जो अपने शिष्य को गलत रास्ते में भटकने नहीं देते हैं तथा मोक्षरूपी मंजिल उनके द्वार पर आने से डरती है। जिस भाग्यशाली को एक बार गुरुचरण मिल जाते हैं उसकी स्वर्ग के पाने की इच्छा समाप्त हो जाती है, क्योंकि स्वर्गलोक तथा इन्द्रलोक की सम्पत्ति कुछ समयोपरान्त नष्ट हो जाती है, परन्तु गुरुदेव की कृपा सदा ही छाया की भाँति उनके पीछे रहती है। ऐसे गुरुदेव की तुलना किससे की जाए। कबीरदास जी ने भी गुरु को ही सर्वोपरि स्थान दिया है, क्योंकि उनको गुरु के चरणों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो गया था और सद्गुरु की महिमा का बखान वे बड़े ही भाव-विभोर हो कर करते हैं।

सद्गुरु की जिस पर एक बार कृपा-दृष्टि हो जाती है, उसे मनुष्य से देवता बनने में एक क्षण भी समय नहीं लगता। उनका उपदेश पापरूपी भूतासुर का वध करने वाला अग्नि-बाण होता है। जिस प्रकार कुम्हार घड़े को बनाते समय भट्ठी में खूब पका देता है ताकि टूटने न पाये। उसी प्रकार गुरुदेव भी मायारूपी पंक में फँसे हुए अपने शिष्यों को वैराग्य रूपी अग्नि में डालकर पका देते हैं कि वह टूटने नहीं पाता, चाहे वासनारूपी हथौड़ा उस पर किसी प्रकार भी चोट करे टूटते नहीं

अर्थात् फिर जन्म-मरण के चक्र से छूटकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इसीलिये कबीर दास जी ने गुरु के प्रति अपनी अमूल्य वाणी कही है—

कोटिक तीरथ न्हाय के, कोटिक अश्वा दान।
ते फल मिलता चाहता, जे घर सद्गुरु जाय॥

इस भौतिकवादी संसार में मायारूपी वृक्ष पर नाना प्रकार के भोग-वासनारूपी फल लगे रहते हैं, जिसको साधारण आदमी वास्तविक आनन्द मानता है। लेकिन गुरुदेव के चरण जिसको एक बार प्राप्त हो जाते हैं, उस के भोग-वासनायें केवल स्वप्न ही मात्र रह जाते हैं तथा इसी भुलाने के प्रयत्नों में लगा रहता है, जिससे वह मृत्युलोक में रहकर भगवत भजन करता हुआ अपना परलोक तथा भूलोक दोनों को सफल बनाता है, क्योंकि मरणोपरान्त उसके साथ केवल पाप व पुण्य का संचय ही जाता है, अन्य सब यहीं छूट जाते हैं।

अतः शिष्य को चाहिए कि वह अपने गुरुदेव की आज्ञा का पालन श्रद्धा व विश्वास से निरन्तर करता रहे। क्योंकि—

श्रद्धया लभते ज्ञानम्।

अर्थात् श्रद्धारूपी वृक्ष में ही गुरु के ज्ञानरूपी फल लगते हैं। क्योंकि—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति,
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति।

जिस प्रकार मनुष्य फावड़े से पृथ्वी को खोदता हुआ जल को प्राप्त करता है, उसी प्रकार गुरु की सेवा करने वाला शिष्य भी ज्ञान को पाता है।

इसलिये शिष्यत्व ग्रहण करने के बाद शिष्य के, गुरु के प्रति कुछ कर्तव्य हैं, जिसे उसने आत्मा जीवन यत्न से पालन करना चाहिए।

मनुस्मृति में गुरुदेव के प्रति ये कर्तव्य बतलाए हैं—

शरीरं चैव वाचं च,
बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठे-
द्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्॥

अर्थात् शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय और मन इनको रोककर हाथ जोड़े और गुरुदेव के मुख को देखता हुआ खड़ा रहे।

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ,
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्।

गुरुदेव के सामने सदा सामान्य अन्न, वस्त्र और वेश से रहे और गुरु से पहले उठे और पीछे सोवे।

आसीनस्य स्थितः,
कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः,
पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥

बैठे हुए गुरु को खड़े होकर, खड़े हुए को सामने जाकर, आते हुए को कुछ पग आगे जाकर, दौड़ते हुए के पीछे दौड़कर उनसे बातचीत करें।

अतः शिष्य को चाहिए कि वह अपने गुरु की सेवा में अपना अमूल्य जीवन पूर्ण रूप से अर्पण करदे तभी उसका जीवन सार्थक हो सकेगा।

योगेश्वर चरित्र माला

समाधिस्था योगिनी रामरती

✻ योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

ऐसी रामरती की चरित्र-कथा एक बड़ी ही अद्भुत और समाज में बहुत ही आश्चर्य पैदा करने वाली कथा है। मेरे सद्गुरुदेव योग-योगेश्वर श्री रामलालजी महाराज जिस समय बिहार प्रान्त में भ्रमण कर रहे थे। तब वे वहाँ के बड़े-बड़े नगरों में होते हुए पटना नगर में आ पहुँचे, यहाँसे थोड़ी दूर पर पवित्रतम गंगा नदीके किनारे जमुनिया घाट नामक एक स्थान है। इसी जमुनिया घाट के निकटवर्ती किसी गाँव में परम आदरणीय योगिनी रामरती ने क्षत्रिय कुल में जन्म लिया था। जब इसने बाल-अवस्था व्यतीत कर तरुणाई में प्रवेश किया तब कुसंग पाकर वह कुमार्ग-गामिनी बन गई और सुरापान करने वाले उद्दण्ड आमिषभोजी युवकों के जाल में फँस गई। रामरती नव-यौवन सम्पन्ना परम रूपवती सुन्दर युवती तो थी ही, उसका मन सहज ही कुमार्गगामी युवकों के संग साथ में बह गया और शनैः शनैः उसका जीवन एक भ्रष्ट जीवन हो गया। वह भी उन लोगों के सम्पर्क से सुरापान करने लगी और वेश्याओं की तरह से दुर्गन्धित रूप बजार के प्रवाह में बह गई। किन्तु [illegible] किसी प्राणी का उद्धार-काल जब संयोग से आ जाता है तब नीच से नीच प्रवृत्ति होने पर भी किसी महान पुरुष के उदय होने पर ऐसे लोग भी सत्संग या गुरुकृपा को पाकर बिलकुल बदल जाया करते हैं। भक्तोंकी कथाओं में वाल्मीक, गणिका, मीरा, सदन कसाई आदि इसी बातके प्रकृतिभूत उदाहरण हैं। इनका पहला जीवन सभी जानते-समझते हैं, सांसारिक था किन्तु सत्संग को पाकर इतने बदले कि उच्चकोटि के समाधिप्राप्त महात्मा हो गये एवं उन्होंने अपने जीवन को धन्य बना लिया।

रामरती का जीवन भी इन्हीं लोगों की तुलना में रखा जा सकता है। रामरती मदोन्मत्त हो करके स्वर्ग सुखके रसभोग में निरंतर संलग्न रहती थी उसका मन इस बातको मान बैठा था कि इससे बढ़कर संसार में कोई अन्य सुख है ही नहीं। संयोगकी बात कि अकस्मात् हमारे गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज जमुनिया घाट के निकटवर्ती जंगलों में घूमते हुए निकल रहे थे तो उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। एक सूने से स्थान पर दो व्यक्ति हाथ में तलवार लिये खड़े हैं और एक-दूसरे से बातें कर रहे हैं। उनमें से एक काफी वृद्ध था और दूसरा नव-युवक दिखाई दे रहा था। युवक कह रहा था कि पिता जी !

बाप वृद्ध है, पूछा लायक है, इस कुल-कलंक दुश्चरित्रा बहन को मैं मार दूँगा, फिर इसके साथी मुझे मार देंगे। इसका परिणाम यह रहेगा कि हमारे कुल का कलंक धुल जायेगा।

वृद्ध कह रहा है कि नहीं बेटा! ऐसा उचित नहीं है। तुम नवयुवक हो, कुल की समृद्धि करोगे, मेरी जीवन-यात्रा पूरी-सी हो चुकी है, आज नहीं तो वर्ष दो वर्ष के अन्दर मेरा शरीर तो समाप्त हो ही जायेगा, अतः तुम मेरी बात को मान लो, तुम यहाँ से कहीं अन्यत्र जगह पर चले जाओ। इस लड़की का जन्म मैंने ही दिया है और मैं ही इसकी हत्या कर दूँगा, कुल का कलंक धुल जायेगा। इसके साथी मुझे मार देंगे, कोई बात नहीं। अपनी इस कुलटा पुत्री के कारण मेरी मृत्यु हो जायगी यह भी ठीक ही है। तुम नवयुवक हो दुनिया में काम करना, धन प्राप्त करना और अपने कुल का संचालन करना।

श्री आनन्दकन्द प्रभुजी एक ओर खड़े हुए इन दोनों की बातें सुन रहे थे। इनकी ये बातें सुनकर और इनके मन के गहरे आघात को विचार करके श्री प्रभु जी ने पूछा कि तुम कौन हो और तुम्हें यह दुःख क्यों हो रहा है? तुम पर यह आपत्ति क्यों है? हम साधु हैं स्पष्ट बताओ। श्री प्रभु जी के मुख से यह बात सुनकर नवयुवक ने उत्तेजना में कहा, तुम्हें हमारी बातों से क्या प्रयोजन है? तुम अपना रास्ता पकड़ो और चले जाओ। हमें जो कुछ करना है करेंगे नहीं, तुम जाओ। किन्तु अपने पुत्र की इस अवहेलनापूर्ण बात को सुनकर उसके वृद्ध पिता ने कहा—नहीं बेटा! यह महात्मा हैं इनको बात बतला देना चाहिए। पता नहीं यहाँ सर्वशक्तिमान परम-पिता परमात्मा किसको निमित्त बनाकर क्या करा दें। युवक ने पिताकी बातको मान लिया और श्री प्रभु जी के चरणारविन्द में अपनी बहन रामरती के चरित्र की सब बातें बतला दीं और यह भी बतला दिया कि हम यहाँ उसकी तलाश में खड़े हैं। वह समीप के घर में बैठी श्रृंगार कर रही है एवं उसके पास शराब की बोतलें रखी हैं। वह अभी इसी रास्ते से अपने चरित्रहीन मित्रों से मिलने के लिये पास के गाँव में जायेगी। बस! ज्योंही वह हमारे नेत्रों के सामने आयेगी, उसकी जीवन-लीला हम समाप्त कर देंगे। यद्यपि उसके मित्रों को पता चलने पर वे सब हमें भी अवश्य मार देंगे। फिर भी कुछ होगा होता रहेगा, किन्तु रामरती को आज हम सदा के लिये सुला देंगे, वह अब किसी को जिन्दा दिखाई नहीं देगी। श्री प्रभु जी ने उन दोनों को सांत्वना देते हुए कहा कि बेटा! आज तुम ऐसा मत करो। उस लड़की को आज हम देख लेते हैं कदाचित् वह हमारी बात मान गई तो उसका जीवन पूरी तरह बदल जायगा। उन दोनों ने प्रभुजी की बात पर विश्वास कर लिया और उसे कत्ल करने का इरादा छोड़ दिया।

यह वार्तालाप हो ही रहा था कि उतनी देर में नवयौवन मदमाती रामरती उन्मत्तों की तरह तेजी से चली आ रही थी उसको श्री प्रभुजी ने देखा और देखकर कहा कि रामरती, ऐसे कर्म क्यों करती हो ? रामरती ने उत्तर दिया महाराज इससे बढ़कर और कोई आनन्द की वस्तु है ही नहीं। मैं सुख भोग और आनन्द के लिये ये सब करती हूँ। श्रीप्रभुजी ने उत्तर दिया यदि तुम्हें इससे अधिक आनंद मिले तो तुम्हें वह चाहिये या यह चाहिये। रामरती ने उत्तर में कहा प्रभु इससे बढ़कर कोई आनन्द तो होता ही नहीं। और अधिक आनन्द कोई क्या देगा ये बातें मिथ्या हैं। साधु महात्मा समझाने के लिये सभी बातें किया करते हैं वस्तुतः आनन्द तो यही है कि प्रभुजी ने फिर कहा—नहीं रामरती तुम विश्वास करो यह आनन्द नहीं है। आनन्द तो कुछ और ही वस्तु है यदि उस आनन्द को तुम पा गयी तो उस घोर दुःख को जिसे तुम आनन्द समझ बैठी हो मलमूत्र की तरह त्याग कर दूर हो जाओगी। श्री प्रभुजी के वचनों को सुनकर रामरती ने फिर कहा कि यदि यह बात सत्य है और इससे बढ़कर कोई आनन्द होता है तो आप साधु महात्मा दिखलाते हैं तो आपके गले में जो यज्ञोपवीत है उसको पकड़कर कसम खाओ कि आप मुझे इससे बढ़कर कोई आनन्द प्राप्त करायेंगे। तब मैं आपके पास आ सकती हूँ अन्यथा मुझे तो हर समय भय है। चारों ओर मेरे दुश्मन हैं मैं आपके निकट नहीं आऊँगी। श्री प्रभुजी को रामरती का उद्धार करना था उसे विश्वास दिलाने के लिये अपना यज्ञोपवीत पकड़ कर कसम खाकर कहा अवश्य हम तुम्हें इससे बढ़कर आनन्द देंगे जिसको पाकर तुम सांसारिक झंझटों में फिर नहीं पड़ोगी। श्री प्रभुजी के इन वचनों को सुनकर रामरती उनके चरण कमलों आकर बैठ गई श्री प्रभुजी ने शरणापन्न उस नारी पर शक्तिपात किया। उसी समय से वह समाधिस्थ हो गई। रामरती की इस हालत को देखकर श्री प्रभुजी ने उसके पिता और भाई को बताया कि अब यह रामरती पुरानी रामरती नहीं है इसका जीवन बदल गया है और यह सच्ची योगिनी बन गई है, जो इसकी सेवा करेगा वरदान पायेगा। श्री आनन्द कन्द प्रभुजी की अपार कृपा को प्राप्त कर दुश्चरित्रा रामरती एक पूर्ण सच्चरित्रा देवी बन गई और वहीं पर समाधि लगाकर बैठी रही उसकी उस समाधीय स्थिति के अन्दर जिन लोगों ने उसकी सेवायें कीं उन लोगों ने अक्षय वरदान प्राप्त किये। रामरती की कृपा पूर्वक अतुलित वरदान धन दौलत प्राप्त करके लोग धनी-मानी बन गए और रामरती के निकट कइयों ने धर्मशालाएँ और शिवालय बनवा दिये। किन्तु रामरती को अपने तन मन की कोई सुध नहीं थी उसके मुख में से जो निकलता था वह होता था किन्तु मुख

से कब कैसा निकलता है और कौन निकल जाता है इसका ज्ञान रामरत्ती को बिल्कुल नहीं हो पाता था। बारह वर्ष तक रामरत्ती उसी स्थान पर समाधि लगाकर बैठी रही। श्री प्रभुजी रामरत्ती को वहाँ बैठाकर नेपाल हिमालय को चले गए थे और आने-जाने वाले दरशङ्कियों को कह गये थे कि जो इसे दूध पिलावेगा वही इष्ट वरदान पायेगा। उन्मीला-वस्था को प्राप्त रामरत्ती की अचेतावस्था में लोग उसको दुग्धपान कराते रहे। बारह वर्ष तक रामरत्ती वहाँ समाधिस्थ रही। उसके बाद नेपाल हिमालय से श्री प्रभुजी अपने पतित बालकों के उद्धार के लिये जब लौट रहे थे तो ध्यानावस्था में ही रामरत्ती को यह पता चल गया कि हमारे जीवन बनाने वाले सर्वसमर्थ सर्वशक्तिमान श्री प्रभुजी नेपाल हिमालय से लौट आए हैं और पटना होकर किसी गाड़ी से जा रहे हैं। रामरत्ती ने अपने पास बैठे सत्संगियों को आज्ञा दी कि हमारे सर्वसमर्थ गुरुदेव इस गाड़ी से पटना से निकल रहे हैं तुम सब रेल्वे स्टेशन जाओ। उन लोगों में स्टेशन मास्टर भी बैठा था वह भी स्टेशन जा पहुँचा उसने देखा रामरत्ती ने जो गाड़ी बताई थी उसीमें श्रीप्रभुजी आरहे हैं। स्टेशन मास्टर ने प्रभुजी से विनय प्रार्थना कर उन्हें गाड़ी से उतार लिया और बतलाया कि आप योगिनी रामरत्ती के गुरुदेव हैं और उन्हीं की आज्ञा से हम आपको लिवाने आये हैं। श्री प्रभुजी उन लोगों के आग्रह करने पर रामरत्ती के स्थान पर चले गये। सत्सङ्गी श्री प्रभुजी को अपने कंधों पर बैठाकर ले जा रहे थे तो श्री प्रभुजी ने उन सबको आज्ञा दी कि तुम लोग हमें अब नीचे उतार दो तुम्हारी वह योगिनी रामरत्ती भागी आ रही है, हमारे चरण पकड़ेगी। कदाचित् उसको चरण नहीं मिल सके तो हो सकता है कि भावोद्रेक में वह अपना शरीर छोड़ दे। अतः हमें जल्दी ही नीचे उतार दो। श्री प्रभुजी की आज्ञा पाकर लोगों ने उन्हें नीचे उतार दिया। कुछ ही देर में देखा कि रामरत्ती बिल्कुल उन्मत्तों की तरह से भागी जा रही है और तीव्रतम उद्वेग से उसने प्रभुजी के चरण पकड़ लिये तथा कई घण्टों के लिए बेहोश हो गई। श्री प्रभुजी ने उसके सत्सङ्गियों को आज्ञा दी कि अब तुम इसको उठाकर ले चलो। इसकी ये बेहोशी कई घण्टों के बाद खुल पायेगी। ऐसा ही हुआ। जिस समय रामरत्ती को चेतना आई श्री प्रभुजी हँसे और बोले, रामरत्ती! हम तो तुम्हें जंगल में बैठा गये थे तुमने ये क्यों धर्मशालाएँ आदि बनवाली हैं। रामरत्ती ने उत्तर दिया हे दीनबंधु आप क्या कह रहे हैं मुझे नहीं पता ये मकान धर्मशाला और शिवालय किसने बना दिये हैं मैंने तो केवल आप उन्हीं को देखा है जिन्हें आप दे गये थे तो मेरी आँखों ने आज आपके दर्शन प्राप्त किये हैं। रामरत्ती को भगवान श्रीकृष्ण का साक्षात्कार समाधि में बराबर

बना रहता था, जो प्रभुजी की कृपा से ही सम्भव हुआ था।

यह वार्तालाप समाप्त होने पर श्री प्रभु जी ने रामरती को आज्ञा दी कि अब तुम यहाँ से सुदूर वन-खण्डों को चली जाओ। रामरती श्री प्रभुजी की आज्ञा को प्राप्त कर नेपाल हिमालय की ओर चली गई।

इस अंक में जो चित्र दिया गया है वह रामरती पर श्रीप्रभु जी ने किस प्रकार शक्तिपात किया इसका परिचायक है। अमुनिया घाट से आगे के स्थानों में हमारा योग-प्रचार कार्यक्रम पर्याप्त मात्रा में बढ़ चुका है। बेतिया में हमारे अनेक सत्संगी बन्धु हैं, जिनमें मास्टर शंकरनाथ जी और उनके अन्य साथी भी हैं, वे हमें बताया करते हैं कि यहाँ रामरती को श्री प्रभु जी ने समाधि-दीक्षा प्रदान की थी वहाँ पर रामरती के चले जाने के बाद स्थानीय लोगों ने रामरती की एक मिट्टी की प्रतिमा बना ली थी जो आज भी मौजूद है। उसके भक्त उस पर अब भी दूध चढ़ाया करते हैं। चालीस दिन तक लगातार मिट्टी की उस प्रतिमा पर दूध चढ़ाकर जो उस योगिनी का स्मरण करते हैं, उनको तीव्रतम तपश्चर्या के बाद आकाश में एक महान ही नवयौवन सम्पन्ना देवी के दर्शन उन्हें होते हैं। वह आशीर्वाद देती है और कहती है कि मैं रामरती हूँ! जाओ तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हुई। इस प्रकार लोगों को तब से लेकर अब तक भी वरदान प्राप्त होते रहते हैं। हो सकता है कि रामरती अपने योग-शरीर से उन पर कृपा करती रहती हो और हिमालय में भूतजयी होकर कहीं तपस्यारत रहती हो।

❀ योगाभ्यास करने का स्थान ❀

दूर देश में, अरण्य में और राजधानी में बैठ कर योगाभ्यास नहीं करना चाहिए अन्यथा सिद्धि की हानि हो सकती है। क्योंकि दूर देश में किसी का विश्वास नहीं होता, अरण्य (वन) रक्षक रहित रहता है और राजधानी में अधिक जनसमूह रहने के कारण प्रकाश (अथवा कोलाहल) रहता है। इसीलिए यह तीनों स्थान इसके लिये वर्जित हैं। सुन्दर धर्मशील देश में जहाँ खाद्य पदार्थ सुलभ हों और उपद्रव रहित भी हो, वहाँ कुटी बनाकर प्राचीर बना देवे। उस प्राचीर के भीतर भाग में बावड़ी, कुआँ, तड़ाग आदि भी हों। वह कुटी न अधिक ऊँची, गोबर से लिपी हुई, कीट आदि से रहित और एकान्त स्थान में हो, वहाँ प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

अपनी-बात-

चैत्र शुक्ला नवमी भारत में तपोधन भगवान राम के जन्म की उद्बोधक स्मृतियों के साथ-साथ यौगिक जगत में योग-योगेश्वर महाप्रभु रामलाल जी की अद्भुत यौगिक लीलाओं, पावनतम् चरित्र गाथाओं और उनके सारभूत कल्याणकारी उपदेशों को सुनने, सुनकर ग्रहण करने और तदनुसार साधना के पथ में आगे बढ़ने की प्रेरणा देने को प्रति वर्ष आती है। दोनों महापुरुषों की जयन्तियां देश में यत्र-तत्र-सर्वत्र मनाई जाती हैं। खवाई का 'श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र' इस दिन महाप्रभु रामलाल जी की जयन्ती का विशाल आयोजन अपने आश्रम-प्रांगण में योग महामेला के रूपमें आयोजित करता है। इसमें भारत के सुदूर प्रान्तों से तथा निकटवर्ती क्षेत्रों के योगपथ के पथिक भाई और बहन हजारोंकी संख्यामें आकर सम्मिलित होते और महाप्रभुजी तथा अपने सद्गुरुदेव पूज्यपाद श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

जैसाकि सभी पाठकों को विदित है अब से सत्रह वर्ष पूर्व योग सिद्धान्तों के प्रचारार्थ श्री सिद्धगुफा खवाई आश्रम के 'मासिक प्रकाशन' के रूप में पूज्यपाद श्री सद्गुरुदेव जी श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के निर्देशन और सम्पादन में 'सिद्धयोग' का आविर्भाव हुआ था। तब से लेकर अब तक सिद्धयोग अपने ग्राहक अनुग्राहक तथा विद्वान् लेखक और कवियों का सहयोग प्राप्त करके निरन्तर अपने इष्ट पथ पर अग्रसर होता आ रहा है, बावजूद प्रकाशन सम्बन्धी अनेक प्रकार की दुरूहताओं के। यह सब महाप्रभुजी की ही कृपा का ही फल है जो कि दुरूहता और अप्रत्याशित महँगाई आदि के तूफानों से जूझता हुआ भी यह योग-सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में अपने दायित्व का निर्वाह समुचित रूपेण कर पा रहा है।

प्रभुजी के जन्मजयंती-समारोह के अवसर पर 'सिद्धयोग' प्रतिवर्ष अपना एक विशेषाङ्क भी प्रकाशित करता है। इस बार भी एक सचित्र विशेषाङ्क यह अपने पाठकों, ग्राहकों और गुरु-भाई बहनों की सेवा में प्रस्तुत अङ्क के रूप में समर्पित कर रहा है। यह कैसा रहा इसका निर्णय हमें नहीं पाठकों को ही करना है। हमें तो केवल इतना ही निवेदन करना है कि यदि इसमें कुछ उपादेय और सार्थक है तो वह महाप्रभुजी और श्री गुरुदेवजी की कृपा एवं विद्वान् लेखकों और कवियों की श्रम-साधना का ही प्रतिफल है। प्रतिकूल इसके इसमें जो कुछ अभाव और न्यूनता अगर है तो इसका उत्तरदायित्व मेरा अपना ही हो सकता है। इसके लिए मेरी ओर से विनम्रतापूर्वक आप सबसे क्षमा-याचना करना ही उचित होगा।

'सिद्धयोग' के व्यवस्था-विभाग में आश्रम के सभी गुरु भाई-बहन और ब्रह्मचारी जो अपना अमूल्य सहयोग देते हैं उनके प्रति भी मैं अपना धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

'दिव्य'—संयुक्त सम्पादक

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्ध योग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

नित्यानन्दानुभूति

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत् पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम् ।
विमुक्तिसौधाग्रतलाधिरोहणं विना नान्यतरेण सिद्धयति ॥
अत्यन्तवैराग्यवतः समाधि समाहितस्यैव दृढप्रबोधः ।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥

हे विद्वन् ! वैराग्य और बोध—इन दोनों को पक्षी के दोनों पंखों के समान मोक्षकामी पुरुष के पंख समझो । इन दोनों में से किसी भी एक के बिना केवल एक ही पंख के द्वारा कोई मुक्तिरूपी महल की अटारी पर नहीं पहुँच सकता अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिये वैराग्य और बोध दोनोंकी ही आवश्यकता है । अत्यन्त वैराग्यवान् को ही समाधि-लाभ होता है, समाधिस्थ पुरुष को ही दृढ़ बोध होता है तथा सुदृढ़ बोधवान् का ही संसार-बन्धन छूटता है और जो संसार-बन्धन से छूट गया है उसी को नित्यानन्द का अनुभव होता है ।

—विवेक-चूडामणि

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विश्व' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा-१

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (हसमादपुर) आगरा।

वर्ष १८ अङ्क २	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्भव विरहतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्साध्यर्थान् बहुविधार्थं योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याद्दानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥	मई १९८५

❀ त्वमादिदेवः ❀

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

अर्थात्

तुम आदि देव हो, पुराण हो, यानी काल से अतीत हो, तुम इस विश्व के अति श्रेष्ठ आधार हो, तुम जानने वाले हो, और जानने की वस्तु हो, मोक्ष के परमधाम हो, यानी तुम से सारे दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति हो जाती है, वही मोक्ष है। हे अनन्त रूप प्रभु तुमने सारे विश्व को व्याप्त किया है क्योंकि तुम आकाश से भी अति सूक्ष्म हो इसलिए तुम से सब कुछ व्याप्त है। —श्रीमद्भागवद्गीता

हमारा विशेष लेख—

आत्मा और परमात्मा

❀ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

संसार के सभी विचारकों में आत्मा और परमात्मा सम्बन्ध में विविध प्रकार का दृष्टिकोण पाया जाता है। आत्माको कोई कहता है कि वह विभु है तो कोई कहता है कि वह अणु है। किन्तु निर्णय के तट पर कोई भी पहुँच नहीं पाता। 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का निर्णय दे देते हैं। पर स्वरूप स्थिति यथार्थ में क्या है इसको सही रूप से कोई भी समझ नहीं पाता। तब सत्यता का फैसला कौन करे? भगवान अखिलात्मा विश्वपावन श्री कृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार का आदेश दिया है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते
कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं
कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

अर्थात् जहाँ पर मनुष्य कि कर्तव्यविमूढ़ हो जाय वहाँ पर शास्त्र प्रमाण को अपना आधार बना लेना चाहिये। शास्त्र का जैसा निर्देश हो उस ही प्रकार चल पड़ना चाहिये। यही कल्याण का मूल साधन होता है। जैसे दर्शनकारों ने आत्मा का लक्षण इस प्रकार से किया है—'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिंगम्' अर्थात् जो सुख और दुःख का अनुभव करता है, सुख की प्राप्ति के लिये और दुःख की निवृत्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है विविध प्रकार की कामनायें मन में करता है और इच्छा पूर्ण न होने पर राग और द्वेष में फँस जाता है। और जिस पर अज्ञानान्धकार छाया रहता है। यह सब आत्मा के लक्षण है।

सारे संसार में साधारण रूप से जीव मात्र में यही लक्षण प्रायः दिखायी देते हैं। हर प्राणी के भीतर इच्छायें होती हैं और इच्छायें पूर्ण न होने पर उसमें क्रोध की भावना उत्पन्न हो जाती है। सुख की प्राप्ति की कामना भी होती है तथा थोड़ा-थोड़ा सुख दुःख प्राप्त भी होता रहता है। अज्ञानान्धकार तो इतना है कोई किसी की हालत को नहीं जान पाता। इससे आत्म तत्त्व के अस्तित्व का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। किन्तु ये सारे के सारे लक्षण प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले भी हैं भगवान ने श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में स्वयं कहा है:—

य एनं वेत्ति हन्तारं-
यश्चैनं मन्यते हतम्।

उभौ तौ न विजानीतो
नायं हन्ति न हन्यते ॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥
वेदा विनाशिनं नित्य
य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं
घातयति हन्ति कम् ॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-
न्यानि संयाति नवानि देही ॥
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि
नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो
न शोषयति मारुतः ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम-
क्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुर
चलोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽय-
मविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं
नानुशोचितु मर्हसि ॥

अर्थात् जो इसको मारने वाला जानते है या इसको मरने वाला जानते है वे दोनों ही यथार्थता को नही समझते। यह आत्मा किसी को नही मारता है और न ही किसी के द्वारा मारा जाता है। न इसका जन्म होता है न यह मरता है। यह आज तक न कभी हुआ है न कभी आगे होगा। यह सदा सर्वदा अजन्मा है और सदा सर्वदा नित्य है, सदा शाश्वत् और पुराण है। शरीर के मारे जाने पर यह आत्मा नही मरता। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है—कि हे अर्जुन ! तुम इस बात का विचार करो कि जो व्यक्ति इस आत्मा को अज अविनाशी एवं नित्य जानता है और जो इसे विनाश रहित जानता है तथा यह जो जानता है कि आत्मा न किसी को मारता है और न कोई इसे मारता है। बात तो केवल मात्र इतनी है जैसे एक मनुष्य काफी दिन के पहने हुये फटे पुराने वस्त्रों को उतार कर फेंक देता है और नये वस्त्र धारण कर लेता ठीक इसी प्रकार जीर्ण शीर्ण शरीरों को प्रारब्ध भोगान्तर जीवात्मा छोड़ देता है और नया शरीर धारण कर लेता है। सिद्धांत की बात यही है। इस आत्मा को शस्त्र नहीं काटते, अग्नि नही जलाती, जल गीला नहीं कर पाता, वायु इसका शोषण नहीं कर सकती। ये आत्मा अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। जो नित्य सर्वगत स्थाणु अचल और सनातन है। अव्यक्त अचिन्त्य और सदा

अविकारी है । इसके इस स्वरूप को जो व्यक्ति समझ लेता है वह चिन्ता नहीं करता । खेद नहीं करता, पश्चात्ताप नहीं करता । इसलिये हे अर्जुन आत्मा के इस स्वरूप को सुनकर तुम भी कोई चिन्ता न करो । आगे भगवान ने गीता के १५ वें अध्याय के अन्त में प्रकृति पुरुष और परमात्मा का स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार निरूपण किया है जो प्रस्तुत विषय को समझने में सहायक होगा ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके
क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि
कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः
परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोक त्रयमाविश्य
बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम-
क्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे
च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

अर्थात् संसार में पुरुष दो हैं । एक का नाम क्षर और दूसरे का नाम अक्षर है । क्षर शब्द से पंचभूतात्मिका प्रकृति का संकेत है । कूटस्थ जीवात्मा कहलाता है । किन्तु प्रकृति और पुरुष इन दोनों से अलग परमात्मा और है जो सारे संसार में व्यापक है । इसलिये हे अर्जुन मैं क्षर और अक्षर दोनों से परे हूँ अतः मेरा नाम पुरुषोत्तम कहा गया है । यहाँ जीवात्मा को कूटस्थ कह करके एक सीमा का संकेत किया । किन्तु कूटस्थता को छोड़ कर बौद्धीय बोध से परे होकर जब अपने नित्य शाश्वत अज अव्यय स्वरूप में आता है तब वह इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख एवं ज्ञानादि से दूर हो जाता है । इस बात को इस प्रकार से समझ लेना चाहिये । आत्मा एक विकार रहित निर्मल ज्योति है । उसमें सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि कुछ भी नहीं है किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली त्रिगुणात्मिका बुद्धि निर्मल ज्योति के सामने पड़ती है तब वह बुद्धि इस ज्योति के प्रकाश से प्रकाशित होकर चेतन भासित होने लगती है । आत्म ज्योति के प्रकाश को पाकर त्रिगुणात्मिका जड़ बुद्धि चेतन सी हुई इस त्रिगुणात्मिका बुद्धि ने अपना स्वरूप इस आत्मा को दिखलाया । ज्यों ही बुद्धि ने अपना स्वरूप आत्मा को दिखलाया त्यों ही वे नित्य शुद्ध अविकारी आत्मा बौद्धीय बोधों को पाकर विकारी जैसा दिखलायी देने लगता है । और सुख-दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इसमें भासित होने लगते हैं । जबकि वस्तुतः शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्य स्वभाव है । इसके अन्दर कभी भी कोई विकार है ही नहीं । योग दर्शन में भगवान पतञ्जलि देव ने 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'